फ़ादर कामिल बुल्के

भारतीय साहित्य के निर्माता

फ़ादर कामिल बुल्के

दिनेश्वर प्रसाद

साहित्य अकादेमी

Father Cammille Bulcke: A monograph in Hindi by Dineshwar Prasad on the modern Hindi scholar and writer, Sahitya Akademi, New Delhi (2002), Rs. 25.

© साहित्य अकादेमी
प्रथम संस्करण : 2002 ई.

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय
रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग : स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400 014
जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23 ए/44 एक्स,
डायमंड हार्बर रोड, कोलकाता 700 053
सीआईटी कैम्पस, टी.टी.टी.आई. पोस्ट, तरामणि, चेन्नई 600 113
सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. वी.आर. अम्बेडकर मार्ग, बंगलौर 560 001

ISBN 81-260-1416-4

मूल्य : पच्चीस रुपये

शब्द संयोजक एवं मुद्रक : विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

आमुख

फ़ादर कामिल बुल्के उन यशस्वी साहित्यकारों और भारतविदों में हैं, जिनके विषय में, सन्दर्भ-भेद से, तुलसी की यह उक्ति एकदम सही उतरती है—*उपजहिं अनत, अनत छवि लहहीं* (उत्पन्न कहीं होते हैं, शोभा कहीं और पाते हैं)। उनका जन्म भले ही बेल्जियम में हुआ हो, कीर्ति तो उन्हें भारत में ही मिली थी। उनका व्यक्तित्व पश्चिम और पूर्व के प्रीतिकर सम्मिलन तथा ईसाई और भारतीय परम्पराओं के मैत्रीपूर्ण संवाद का प्रतीक है। वे *बाइबिल* (पुराना विधान) के नवी यिरमियाह द्वारा उल्लिखित उस दाखलता की तरह हैं, जो एक द्वीप से दूसरे द्वीप को जोड़ती है।

यद्यपि उनसे पहले भी भारतीय विषयों पर कई यूरोपीय विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया, किन्तु उन्होंने इनका विवेचन मुख्यतः अंग्रेज़ी या किसी अन्य यूरोपीय भाषा में किया। उनमें से कुछ ही विद्वानों ने भारतीय भाषाओं को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। *बाइबिल* के प्रारम्भिक हिन्दी अनुवादक और ईसाई धर्म के हिन्दी प्रचार साहित्य के प्रारम्भिक लेखक यूरोपीय ही थे; किन्तु फ़ादर कामिल बुल्के की स्थिति इन सबसे बहुत भिन्न है। आवश्यक होने पर उन्होंने अंग्रेज़ी में भी लिखा है, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम हिन्दी है। उनके अधिकांश सर्वोत्तम लेखन की भाषा यही है। हिन्दी में ही उन्होंने अपने विश्वप्रसिद्ध ग्रन्थ *रामकथा : उत्पत्ति और विकास* (1950 ई.) की रचना की है, जिसके विषय में उनके गुरु और प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने यह लिखा है :

> "यह ग्रन्थ वास्तव में रामकथा-सम्बन्धी समस्त सामग्री का विश्वकोश कहा जा सकता है।...वास्तव में यह खोजपूर्ण रचना अपने ढंग की पहली ही है। हिन्दी क्या किसी भी यूरोपीय अथवा भारतीय भाषा में इस प्रकार का कोई दूसरा अध्ययन उपलब्ध नहीं है।" (परिचय : 6)

इस ग्रन्थ ने रामकथा के इतिहास और स्वरूप-सम्बन्धी प्रचलित मतवादों, इसकी विभिन्न परम्पराओं, इसके अन्तरराष्ट्रीय प्रसार और प्रभाव आदि का पहली बार उद्घाटन किया है। स्वभावतः इसने भारतीय साहित्य के महत्त्वपूर्ण भाग अर्थात् राम-साहित्य की पूरी समझ को प्रभावित और परिवर्तित किया है। स्वयं फ़ा. बुल्के ने इस ग्रन्थ के माध्यम से उठनेवाले प्रमुख प्रश्न—इस कथा की निरन्तरता—पर अपने परवर्ती निबन्धों में भी विचार किया है।

फ़ा. बुल्के के लेखन का एक विषय तुलसी साहित्य है। उनका इस विषय का लेखन हिन्दी के सबसे बड़े समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के तुलसी-सम्बन्धी लेखन का पूरक और विस्तार ही नहीं है, बल्कि इसके द्वारा पहली बार पूरे भारतीय और एशियाई राम-साहित्य के सन्दर्भ में तुलसी की महिमा का साधार निरूपण हुआ है। अभिप्राय यह कि इसने तुलसी की प्रचलित समझ को एक नितान्त नया आयाम दिया है।

फ़ा. बुल्के का *अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश* कोश-विज्ञान की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियों में है और अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश के क्षेत्र की सम्भवतः सबसे बड़ी कृति। इसी प्रकार, उनका *बाइबिल* का हिन्दी अनुवाद *बाइबिल* की हिन्दी अनुवाद-परम्परा की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

फ़ा. बुल्के का प्रारम्भिक विकास एक भिन्न सांस्कृतिक और वैचारिक परिवेश में हुआ था। इसलिए भारतीय विषयों पर उनके लेखन की पृष्ठभूमि में एक तरह का तुलनात्मक बोध मिलता है। बाहर से देखने पर यह बोध सदैव मुखर प्रतीत नहीं होता, किन्तु समग्रता में विचार करने पर विवेचित विषय-सम्बन्धी उनके लेखन की भंगिमा पहले से चली आती हुई या समकालीन भारतीय लेखन से अलग दीखती है। यही नहीं, उन्होंने सप्रयोजन ऐसे विषयों पर भी लिखा है, जहाँ दो परम्पराओं का पार्थक्य बड़ा स्पष्ट है। इस बात के उदाहरण ईसाई और भारतीय परम्परा के तुलनात्मक प्रसंगों से सम्बन्ध रखनेवाली उनकी रचनाएँ हैं। इस प्रकार का उनका समस्त लेखन बहुत-सारे विषयों पर विचार के नए परिदृश्यों का उद्‌घाटन करता है।

प्रस्तुत पुस्तक में डॉ. बुल्के के बहुआयामी कृतित्व के विभिन्न पक्षों पर विचार किया गया है। पुस्तक कैसी बन पड़ी है, इसका निर्णय तो इसका पाठक-समुदाय ही करेगा। किन्तु यदि मैं यह पुस्तक लिख सका, तो इसका श्रेय साहित्य अकादेमी की हिन्दी परामर्श समिति के सदस्यों और अधिकारियों को है, जिन्होंने मुझे इसका दायित्व प्रदान किया। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। मैं आभारी हूँ आदरणीय प्रो. कल्याणमल लोढ़ा जी का, जिनके आग्रह के कारण ही मैं इसे पूरा कर पाया। मैं डॉ. कामिल बुल्के शोध-संस्थान के निदेशक डॉ. फ़ादर मथियस डुँगडुँग, एस.जे. और पुस्तकालय-प्रभारी श्रीमती रेजिना बा का भी हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे फ़ा. बुल्के की समस्त प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाओं के उपयोग की सुविधा प्रदान की है।

उद्धव बाबू लेन,
राँची (झारखंड) 834001

—दिनेश्वर प्रसाद

अनुक्रम

1. जीवन-प्रसंग	9
2. रचना-क्षेत्र	19
3. रामकथा-सम्बन्धी कार्य	
—रामकथा और वाल्मीकि	21
—रामकथा की परम्पराएँ	31
—रामकथा का विकासमूलक स्वरूप	49
4. फ़ादर बुल्के की तुलसी-दृष्टि	56
5. बाइबिल की हिन्दी अनुवाद-परम्परा और फ़ादर बुल्के की हिन्दी बाइबिल	73
6. कोश निर्माण और स्फुट लेखन	85
7. हिन्दी के निमित्त	90
8. ईसाई और हिन्दू धर्म तथा भारतीयता	100
परिशिष्ट :	
बुल्के साहित्य की सूची	107
सहायक ग्रन्थ एवं पत्रिकाएँ	116

1

जीवन-प्रसंग

बेल्जियम के पश्चिम फ़्लैंडर्स प्रान्त का रम्सकपैले गाँव। इसी गाँव में एक सितम्बर, 1909 ई. को अदोल्फ़ और मरिया बुल्के की प्रथम सन्तान के रूप में फ़ादर कामिल बुल्के का जन्म हुआ था। इसलिए अक्सर विनोद में वे कहा करते थे कि जिस रामकथा-सम्बन्धी कार्य के लिए लोग उन्हें जानते हैं, उस राम (रम्स) से भगवान ने उनका सम्बन्ध जन्म के समय ही जोड़ दिया था।

बुल्के परिवार मूलतः सम्पन्न भूमिधरों का था; लेकिन कामिल के जन्म के समय यह घोर संकट से गुज़र रहा था। पिछली कई पीढ़ियों की धन-सम्पदा उनके दादा फ़िलिपि की आदतों के कारण ख़त्म हो चुकी थी। उनके जन्म के तीन महीने बाद रम्सकपैले का घर भी बिक गया और उनके बड़े चाचा बग़ल के गाँव हाइस्त चले गए और उनके पिता अपनी ससुराल के गाँव लिस्सेवेगे आकर बस गए। संन्यास ग्रहण करने के पहले तक फ़ादर कामिल का जीवन लिस्सेवेगे में ही बीता, जहाँ उनका घर स्टेशन जानेवाली सड़क पर था। उन्हें इस बात का वड़ा गर्व था कि वे लिस्सेवेगे-निवासी हैं और इस तरह भारत के असंख्य लोगों की तरह ही ग्राम-वासी। वे अक्सर एक अंग्रेज़ी कविता सुनाया करते थे, जिसका अनुवाद, स्वयं उनके शब्दों में, यह है :

हम जो जन्मे थे गाँवों में
नगरों और बदलते चेहरों से दूर,
हमें एक ऐसा जन्मसिद्ध अधिकार मिला है
जिसे कोई बेच नहीं सकता
और एक ऐसा रहस्यमय आनन्द
जिसे कोई शब्दों में कह नहीं सकता।

फ़ादर बुल्के के पिता अदोल्फ़ लम्बे, बलिष्ठ, अनुशासनप्रिय और गम्भीर व्यक्ति थे। वे बहुत धार्मिक थे। इसलिए उन्होंने अपने बड़े भाई के लकड़ी के अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में भागीदार बनना स्वीकार नहीं किया और वे वेतनभोगी प्रबन्धक के रूप में उनके कारख़ाने में काम करते रहे। उनके पिता के ठीक विपरीत उनकी माँ मरिया थीं—दुर्बल, अत्यन्त भावुक और खुले स्वभाव की। वे काव्य प्रेमी थीं और अपने बच्चों को फ़्लेमिश कवियों की रचनाएँ और लोकगीत सुनाया करती थीं।

वे अपने पति की तरह ही धार्मिक थीं और इतनी संवेदनशील और सेवापरायण कि पड़ोस के किसी भी परिवार में कोई बीमार पड़ता या किसी की मृत्यु हो जाती, तो वे सहायता और संवेदना के लिए वहाँ उपस्थित हो जातीं। कामिल को अपने पिता और माता, दोनों के सर्वोत्तम गुण मिले थे। वे पिता की तरह बलिष्ठ, कर्मठ और कार्यकुशल थे तथा माता की तरह भावुक और परोपकारी। धार्मिकता उन्हें विरासत के रूप में दोनों से मिली थी; फिर भी उन पर अपनी करुणामयी माता का प्रभाव कहीं अधिक पड़ा था, जिनकी चर्चा से ही वे भावुक हो उठते थे। उनका बचपन माँ की स्नेहिल छाया में ही बीता था, क्योंकि प्रथम विश्वयुद्ध शुरू होते ही उनके पिता को अनिवार्य भरती के नियम के अन्तर्गत सैनिक के रूप में मोर्चे पर भेज दिया गया था। वे हॉलैंड में युद्धबन्दी हो गए थे और लड़ाई सम्पन्न होने पर ही लौट सके थे।

कामिल चार भाई-बहन थे—उनके सिवा जूलियन, गैब्रिएल और रोबर्ट। पिता की भरती के समय कामिल पाँच वर्ष के थे और रोबर्ट डेढ़ वर्ष के। बच्चों में सबसे बड़े होने के कारण कामिल माँ के सबसे प्रिय थे। वे आजीवन अपने इस बेटे से सबसे अधिक जुड़ी रहीं। संन्यासी कामिल को लिखे गए अधिकांश पत्रों के अन्त में यह उल्लेख बराबर मिलता है, "माँ, जो तुम्हें कभी भूलती नहीं।"

माता के सिवा उन पर गाँव की मदर सुपीरियर गेरट्रूड का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा था। बपतिस्मा के दिन ही उन्होंने शिशु बुल्के से कहा था, "भगवान से संन्यासी बनने का वरदान माँगना।" बहुत दिन बाद वे इंजीनियरिंग में प्रवेश के समय उनसे आशीर्वाद माँगने गए, तो वे बोलीं, "इतना परिश्रम क्यों करते हो? तुम्हें तो संन्यासी बनना है।" मदर गेरट्रूड की इस बात का रहस्य उन्हें उस दिन समझ में आया, जिस दिन उन्होंने अचानक संन्यासी बनने का निर्णय लिया।

कामिल बुल्के की प्रारम्भिक शिक्षा मदर गेरट्रूड के कॉन्वेंट में हुई और मिडिल तक की शिक्षा गाँव के नगरपालिका विद्यालय में। वे उच्च विद्यालय की पढ़ाई के लिए निकटवर्ती शहर ब्रुगे के सन्त फ्रांसिस स्कूल में भरती हुए। वे प्रतिदिन गाँव के रेलवे स्टेशन से ब्रुगे जाते और शाम को अपने साथियों के साथ घर लौट आते। अपने विनम्र मृदु स्वभाव और प्रतिभा के कारण वे अपने अध्यापकों और सहपाठियों के बीच बड़े लोकप्रिय थे। वे प्रत्येक कक्षा में सर्वप्रथम आते और 1928 ई. में बहुत ऊँचे अंकों से हाई स्कूल परीक्षा पास हुए।

उन दिनों इंजीनियरिंग की पढ़ाई सबसे कठिन मानी जाती थी। इसलिए उच्च विद्यालय में पढ़ते समय ही उन्होंने सोच लिया था कि यहाँ से उत्तीर्ण होने पर वे इंजीनियरिंग पढ़ेंगे। उन्होंने यूरोप भर में अपने उच्च स्तर के लिए प्रसिद्ध लूवेन विश्वविद्यालय में इंजीनियरिंग की प्रवेश-परीक्षा दी और वे इसमें भी सर्वप्रथम आए। लिस्सेवेगे गाँव के किसी लड़के के लिए विश्वविद्यालय में प्रवेश की यह पहली घटना थी।

लूवेन विश्वविद्यालय लिस्सेवेगे से डेढ़ सौ किलोमीटर दूर दक्षिण-पूर्व की ओर है। यह बेल्जियम की राजधानी ब्रुसेल्स के समीप है। कामिल के इंजीनियरिंग में अध्ययन के दिनों में यह फ्रांसीसी भाषा के वर्चस्व के विरोध में प्रारम्भ फ़्लेमिश आन्दोलन का एक बड़ा केन्द्र बन गया था। बेल्जियम दो भाषाओं का देश है। इसका एक भाग फ्रांसीसीभाषी है और दूसरा भाग, फ़्लेमिश भाषी। किन्तु पूरे देश की राजभाषा फ्रांसीसी थी। स्वयं फ़्लेमिशभाषी बेल्जियम का अभिजात वर्ग फ्रांसीसी भाषा और संस्कृति का भक्त और समर्थक था। यह वर्ग फ्रांसीसीभाषियों की तरह ही फ़्लेमिश भाषा को अविकसित और असंस्कृत मानता था तथा फ़्लेमिश बोलनेवालों को उपहास की दृष्टि से देखता था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया शुरू हो गई थी। यह प्रतिक्रिया फ़्लेमिश बोलनेवाली ग्रामीण जनता से लेकर मध्य एवं निम्न वर्गों के शिक्षित नवयुवकों तक फैल चुकी थी। फ़्लेमिश आन्दोलन का ज़ोर फ़्लैंडर्स के दूसरे गाँवों की तरह लिस्सेवेगे में भी था। लूवेन में कामिल न केवल इस आन्दोलन के सक्रिय सदस्य बन गए थे, बल्कि उनकी गणना इसके एक बड़े छात्र नेता के रूप में की जाने लगी थी। वह अपने विषय के निष्ठावान् छात्र थे, लेकिन आन्दोलन के कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए वे अपनी कक्षाएँ तक छोड़ देते और जब कोई अध्यापक उनकी कक्षा में फ्रांसीसी में व्याख्यान देता, तो वे अपने सहपाठियों के साथ ज़ोर-ज़ोर से फ़्लेमिश गीत गाने लगते थे।

उनके मन में अपने भविष्य का एक स्पष्ट मानचित्र था—वे इंजीनियर बनकर एक सामान्य गृहस्थ का जीवन जीना चाहते थे। इसके अतिरिक्त वे फ़्लैंडर्स से फ्रांसीसी भाषा का वर्चस्व समाप्त कर अपनी मातृभाषा फ़्लेमिश को प्रतिष्ठित करने के संघर्ष में आजीवन सक्रिय रहना चाहते थे। किन्तु अचानक कुछ ऐसा घटित हुआ कि एक ही क्षण में भविष्य के उनके सारे स्वप्न छिन्न-भिन्न हो गए और उनके जीवन की दिशा ही बदल गई। उन्होंने स्वयं अपने एक साक्षात्कार में इस घटना का विवरण दिया है :

> "बी. एस.सी. इंजीनियरिंग की प्रथम परीक्षा देने के बाद मैं गाँव में था। शाम का समय था। परिवार के सब लोग बाहर गए हुए थे। मैं फ़ुटबॉल खेलकर लौटा और एक पुस्तक पढ़ रहा था। अचानक पुस्तक के पृष्ठ पर बिजली-सी कौंधी और उसके आलोक में मैंने यह जान लिया कि मुझे संन्यास ग्रहण करना है। मैं भावविह्वल हो गया और घर की कुंजी पड़ोसी को देकर टहलने चला गया। मैं बहुत शाम गए अँधेरे में घर लौटा और अपने भीतर डूबा-डूबा इतना उदास रहने लगा कि मैंने तीन दिनों तक किसी से बात नहीं की। सब लोग मेरे इस व्यवहार पर आश्चर्य में पड़ गए थे।"

(आलोचना 75, पृ. 6, 1985 ई.)

इसी उदासी में वे लूवेन लौटे और दूसरे वर्ष की पढ़ाई में लग गए। वे बीच-बीच में नगर की जेसुइट सेमिनरी में लैटिन पढ़ने जाने लगे, क्योंकि उन दिनों धर्मशिक्षा के लिए लैटिन और ग्रीक की जानकारी अनिवार्य थी। सेमिनरी में उनके गुरु साल्समैन थे, जो ईसाई नीतिशास्त्र के विश्वप्रसिद्ध आचार्य माने जाते थे।

कामिल ने संन्यास-सम्बन्धी अपना निर्णय केवल अपने परम मित्र कालोस देव्रिदन्त को बताया था। लेकिन जब वे दूसरे—और उन दिनों के पाठ्यक्रम के अनुसार इंजीनियरिंग के अन्तिम—वर्ष की परीक्षा देकर घर आए, तो उन्होंने अपने निर्णय के बारे में माता-पिता को सूचित कर देना चाहा। यह काम बड़ा कठिन था, इतना कठिन कि कई दिनों के मानसिक द्वन्द्व के बाद ही वे इसका साहस बटोर सके। एक शाम जब सब लोग भोजन की मेज़ के सामने एकत्र थे, तो उन्होंने उनको अपना निर्णय बता दिया। माँ रोने लगीं, लेकिन अपने को सँभालते हुए बोलीं, "मैं अपने को धन्य मानती हूँ।" सदा की तरह शान्त और मितभाषी पिता बस इतना बोले, "तुम्हारा घर पर होना कितना अच्छा होता!" माता-पिता ने अपने सबसे योग्य पुत्र के सम्बन्ध में जो स्वप्न देखा था, यह उसका अप्रत्याशित अन्त था। किन्तु उन्होंने इसे प्रभु की इच्छा मानकर भक्ति-पूर्वक स्वीकार किया। यों इस परिवार के लिए यह कोई नई घटना नहीं थी। कामिल कीं बुआ एमेरांस संन्यासिनी थीं और उनका सबसे छोटा भाई रोबर्ट बचपन में ही संन्यासी हो गया था। फिर भी कामिल के संन्यास ग्रहण का निर्णय परिवार के लिए आघात-जैसा था।

कामिल बुल्के गेन्त के समीपवर्ती नगर ड्रांगन के जेसुइट नवशिष्यालय में 23 दिसम्बर, 1930 ई. में भरती हो गए। वे दो वर्ष वहाँ रहे और आगे की धर्मशिक्षा के लिए नीदरलैंड के वाल्केनबर्ग क़स्बे के जर्मन जेसुइट संस्थान चले गए। वहाँ उन्होंने ईसाई धर्मदर्शन का उच्चतर ज्ञान प्राप्त किया, लैटिन और ग्रीक के अलावा जर्मन में दक्षता हासिल की और ग्रिगोरियन विश्वविद्यालय, रोम की एम.ए. (दर्शनशास्त्र) की परीक्षा नब्बे प्रतिशत अंकों से उत्तीर्ण की। वहीं उनके भीतर के साहित्यकार को विकास का पहला अवसर मिला। वाल्केनबर्ग में उन्होंने जर्मन में 'मेरा गाँव' (माइन डोर्फ़) और 'मनुष्य मात्र की समानता' शीर्षक दो निबन्ध लिखे, जो उनके साहित्य-सृजन के प्रस्थान-बिन्दु हैं। वे जर्मन जर्मनों की तरह बोलते थे और उन्हें गेटे, हाइने और रिल्के की ढेर सारी कविताएँ कंठाग्र हो गई थीं। गेटे और रिल्के के प्रति उनका आकर्षण जीवन भर बना रहा और वे तुलसी, वाल्मीकि, शेक्सपीयर और ग़जैले के अलावा बीच-बीच में इन कवियों की कविताएँ भी पढ़ा करते थे।

वाल्केनबर्ग की शिक्षा समाप्त होने पर कामिल बुल्के ब्रदर बन गए और 1934 ई. में लूबेन की सेमिनरी आ गए। यहाँ उनके सामने यह विकल्प रखा गया कि वे या तो स्वदेश में रहकर धर्मसेवा करें या विदेश में। उन्होंने दूसरे विकल्प का चुनाव करते हुए भारत में धर्मकार्य करने की इच्छा प्रकट की। अधिकारियों ने उन्हें सूचित किया

कि उन्हें 1935 ई. में किसी समय भारत भेजा जाएगा। लेकिन अनिवार्य सैनिक सेवा के राष्ट्रीय नियम के अन्तर्गत उन्होंने चिकित्सा विज्ञान का एकवर्षीय पाठ्यक्रम पूरा किया। पाठ्यक्रम पूरा करने के साथ-साथ वे लूवेन विश्वविद्यालय में प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. ल'मैत्र के निर्देशन में आइन्सटाइन के सापेक्षवाद और उच्चतर गणित का अध्ययन भी करते रहे।

जून, 1935 ई. में दोनों पाठ्यक्रम समाप्त हो गए। संघ के अधिकारियों ने उन्हें यह सूचना दी कि वे अक्तूबर में भारत के लिए प्रस्थान कर सकेंगे। इसलिए वे लिस्सेवेगे आ गए और कई दिनों तक अपने पड़ोसियों और रम्सकपैले, कनौके आदि गाँवों के सम्बन्धियों से मिलने जाते रहे। उस समय धर्मसंघ का यह नियम था कि धर्मसेवा के लिए विदेश जानेवाला संन्यासी कभी स्वदेश नहीं लौट सकता। इसलिए सब लोग उन्हें यही सोचकर विदा दे रहे थे कि अब उनसे फिर भेंट नहीं होगी। सबसे अधिक विचलित उनके परिवार के लोग थे, विशेषतः उनकी माँ, जो 20 अक्तूबर को उन्हें विदा करने के बाद बेहोश हो गई थीं।

कामिल पानी के जहाज़ से नवम्बर में मुम्बई पहुँचे और वहाँ से येसु सन्धियों के मठ मनरेसा हाउस, राँची आ गए। उन्हें जनवरी, 1936 ई. में भौतिकी और रसायन विज्ञान के अध्यापक के रूप में सन्त जोसेफ़ कॉलेज, दार्जिलिंग भेजा गया, लेकिन वहाँ के प्रतिकूल मौसम के कारण बीमार होकर वे जून में राँची लौट आए। हर जेसुइट संघी को दो साल अध्यापन करना पड़ता है। इसलिए उन्हें 1937 ई. तक के लिए सन्त इग्नाशियुस हाई स्कूल, गुमला में गणित अध्यापक के रूप में भेज दिया गया। वे भारत आने के बाद से ही हिन्दी सीखने लगे थे। गुमला में भी वे हिन्दी के अध्यापन की घंटियों में अपने विद्यार्थियों के साथ सबसे पिछली पंक्ति में बैठकर पढ़ने लगे। वे एक वर्ष के भीतर न केवल खड़ी बोली सीख गए, बल्कि ब्रजभाषा और अवधी भी समझने लगे। वे तुलसी की रचनाओं से इस तरह प्रभावित हुए कि उन्होंने उन्हें गहराई से समझने के लिए हिन्दी और संस्कृत के विशेष अध्ययन का निश्चय किया। उनकी इस अभिरुचि को देखते हुए अधिकारियों ने उन्हें इन भाषाओं की जानकारी बढ़ाने के लिए सीतागढ़ (हज़ारीबाग़) भेज दिया।

कामिल ने 1938 ई. में सीतागढ़ में पं. बदरीदत्त शास्त्री के निर्देशन में हिन्दी और संस्कृत सीखी। कठिन परिश्रम और असाधारण मेधा के बल पर उन्होंने कुछ ही महीनों में इन भाषाओं पर इतना अधिक अधिकार कर लिया कि वे बड़ी सरलता से तुलसी साहित्य, *पंचतन्त्र*, *गीता* और *वाल्मीकि रामायण* का अर्थ-निरूपण करने लग गए। उनके विस्तृत भाषाज्ञान के कारण उनके गुरु बदरीदत्त जी उन्हें 'चलता-फिरता शब्दकोश' कहा करते थे।

जनवरी, 1939 ई. में कामिल की सर्वोच्च धर्मशिक्षा प्रारम्भ हुई। इसे पूरा करने के लिए वे सेंट मेरी थियोलॉजिएट, कर्सियांग भेजे गए, जहाँ वे लगभग चार वर्ष रहे।

उन्होंने धर्मशास्त्र की उपाधि के लिए प्रसिद्ध भारतविद् फ़ा बायार्त के निर्देशन में 'द थीइज़्म ऑव न्याय वैशेषिक' (न्याय वैशेषिक का ईश्वरवाद) नामक लघु शोध प्रबन्ध लिखा। (यह कुछ वर्ष बाद, 1947 ई. में ओरियंटल इन्स्टीट्यूट, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।) यहीं उन्होंने विश्वप्रसिद्ध धर्मशास्त्री फ़ा. वोलकार्ट के परामर्श से *बाइबिल* के 'नया विधान' (न्यू टेस्टामेंट) के चार सुसमाचारों में उपलब्ध ईसा के जीवन की सामग्री का व्यवस्थापन *द सेवियर* के नाम से किया। *द सेवियर* अपने ढंग की अकेली पुस्तक है, जिसके कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने इसका *मुक्तिदाता* के नाम से हिन्दी अनुवाद किया, जो 1940 ई. में छपा। इसकी हिन्दी से ही यह पता चल जाता है कि वे इस भाषा का बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त कर चुके थे।

1940 ई. में ही उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की विशारद परीक्षा पास की थी। इसी वर्ष एक ऐसी घटना हुई, जिससे उनके हिन्दी के उच्चतर अध्ययन के संकल्प को और भी बल मिला। काका कालेलकर मारवाड़ी समाज द्वारा स्थापित हिन्दी पुस्तकालय के शुभारम्भ के लिए कर्सियांग आए। ब्रदर बुल्के की अध्यक्षता में पुस्तकालय की सभा आयोजित की गई थी, जिसमें बहुत-से लोग उपस्थित थे। सभा में उनका हिन्दी भाषण सुनकर काका साहब भावविह्वल हो गए और बोले, "बुल्के जी हमलोगों में से एक बन गए हैं।" इसका उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने यह निश्चय किया कि हिन्दी में एम.ए. करेंगे।

1941 ई. में पुरोहिताभिषेक के बाद वे ब्रदर से फ़ादर बन गए। 1943 ई. में कोडाइकनाल (तमिलनाडु) में धर्मसाधना पूरी करने के बाद उन्होंने राँची लौटने पर हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ. धीरेन्द्र वर्मा को इलाहाबाद पत्र लिखा कि वे हिन्दी में एम.ए. करना चाहते हैं। डॉ. वर्मा का कोई उत्तर नहीं मिला, तो उन्होंने स्वतन्त्र छात्र के रूप में हिन्दी और संस्कृत विषय लेकर 1945 ई. में कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी.ए. किया और इलाहाबाद गए। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने उनकी शैक्षिक योग्यता के विषय में पूछताछ की और उनके हिन्दी-ज्ञान की परीक्षा लेने के विचार से उन्हें *विनयपत्रिका* के दो पद दिए और उनकी हिन्दी व्याख्या लिखने को कहा। इसका उल्लेख करते हुए फ़ा. बुल्के कहते हैं :

> "डॉ. धीरेन्द्र मेरी व्याख्या को बहुत देर तक देखते रहे, मानों वह कोई खिड़की हो, जिससे मीलों दूर तक का दृश्य देखा जा सकता है। उन्होंने मुझे प्रवेश की अनुमति दे दी।" (आलोचना 75, पृ. 9)

वे 1947 ई. में हिन्दी में एम.ए. हो गए और उन्होंने डॉ. धीरेन्द्र वर्मा की प्रेरणा से 'राम भक्ति का विकास' विषय पर डॉ. माताप्रसाद गुप्त के निर्देशन में शोध प्रारम्भ किया। उनके शोध विषय का प्रथम अध्याय था—रामकथा का विकास। इस अध्याय के लिए उन्होंने भारतीय और ग़ैरभारतीय स्रोतों से इतनी अधिक सामग्री संकलित कर

ली कि डॉ. धीरेन्द्र वर्मा उसकी नवीनता और विपुलता से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने उनको केवल इसी विषय पर कार्य करने को कहा। 1949 ई. में डी. फिल्. उपाधि के लिए स्वीकृत उनका 'रामकथा : उत्पत्ति और विकास' शीर्षक शोध प्रबन्ध उनकी अक्षय कीर्ति और अन्तरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा का आधार प्रमाणित हुआ। इसकी एक विशेषता यह भी है कि यह हिन्दी माध्यम में प्रस्तुत हिन्दी का प्रथम शोध प्रबन्ध है। उस समय तक भारत के विश्वविद्यालयों में अंग्रेज़ी में शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने का नियम था, जिसे उनके आग्रह पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति डॉ. अमरनाथ झा ने संशोधित कर उन्हें हिन्दी में शोधप्रबन्ध प्रस्तुत करने की अनुमति दी थी।

1950 ई. में डॉ. बुल्के की नियुक्ति राँची के सन्त ज़ेवियर कॉलेज के हिन्दी और संस्कृत विभागाध्यक्ष के रूप में हुई। अब वे कैथोलिक संन्यासियों के मठ मनरेसा हाउस में स्थायी रूप से रहने लगे। उनकी साधना के सर्वोत्तम वर्ष यहीं व्यतीत हुए। 1950 ई. से 1982 ई. की अवधि उनके जीवन का सबसे कार्यसंकुल काल है। इस अवधि में उन्होंने रामकथा सम्बन्धी अपने कार्य को और भी विस्तार दिया। वे आजीवन इस पर कार्य करते रहे। बहुभाषाविद् होने के कारण उन्होंने अनेक स्वदेशी-विदेशी स्रोतों से प्रभूत नई सामग्री संकलित की और रामकथा के अनेक प्रसंगों का पुनर्लेखन किया। 1962 ई. में *रामकथा : उत्पत्ति और विकास* का दूसरा और 1973 ई. में तीसरा संस्करण छपा और इसका आकार बढ़कर आठ सौ पृष्ठों से भी अधिक हो गया। उन्होंने इसके चौथे संस्करण की पांडुलिपि भी तैयार कर ली थी। उन्होंने रामकथा के अनेक पात्रों और प्रसंगों, वाल्मीकि, तुलसी, हिन्दी और तुलनात्मक धर्मदर्शन पर हिन्दी, अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी और फ़्लेमिश में साठ से भी अधिक निबन्ध लिखे। तुलसी उनके सबसे प्रिय कवि थे, जिनकी भगवद्भक्ति और कवित्व से वे बहुत प्रभावित थे। वे प्रति वर्ष तुलसी जयन्ती के अवसर पर भाषण देने के लिए देश के कोने-कोने से बुलाए जाते थे। प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन (नागपुर) के अवसर पर पवनार आश्रम, वर्धा में 14 जनवरी 1975 ई. को तुलसी की प्रतिमा का अनावरण करते हुए उन्होंने ठीक ही कहा था, "तुलसी ने कहा है—सबहिं नचावत राम गोसाईं, किन्तु मैं कहता हूँ—मोहि नचावत् तुलसी गोसाईं। प्रत्येक वर्ष तुलसी का सन्देश सुनाने के लिए मैं बहुत दौड़ा करता हूँ।" (*डॉ. बुल्के स्मृति ग्रन्थ*, पृ. 12)

वे तुलसीदास को केवल विश्व के महानतम कवियों में एक ही नहीं मानते थे, वरन् उनकी भगवद्भक्ति को मानव मात्र के लिए आदर्श मानते थे। यद्यपि तुलसी पर एक विस्तृत ग्रन्थ लिखने का उनका स्वप्न पूरा नहीं हो सका, लेकिन उनके निबन्धों तथा *रामकथा और तुलसीदास* तथा *मानस-कौमुदी* नामक पुस्तकों से उनकी तुलसी-सम्बन्धी दृष्टि की जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

भारत आने के बाद ही उन्होंने यह अनुभव किया कि हिन्दी यहाँ की सबसे

बड़ी सम्पर्क भाषा है, लेकिन विदेशी भाषा अंग्रेज़ी की तुलना में यह एक उपेक्षित भाषा है। उन दिनों गाँधी जी के नेतृत्व में चल रहे स्वातन्त्र्य संग्राम से पूरा देश आन्दोलित था और हिन्दी का प्रचार उस संग्राम का महत्त्वपूर्ण अंग था। डॉ. बुल्के ने हिन्दी की लड़ाई को अपने मिशन का अंग बना लिया और फ्लेमिश आन्दोलन के अपने अनुभवों के आधार पर विदेशी भाषा अंग्रेज़ी के वर्चस्व के विरोध में जनभाषा हिन्दी का समर्थन प्रारम्भ किया। वे भारत के ईसाई धर्मसंघों के अंग्रेज़ी-मोह तथा हिन्दी और अन्य जनभाषाओं की उपेक्षा से बहुत पीड़ित थे। उन्होंने भारत के ईसाई धर्मसंघों को हिन्दी के माध्यम से यहाँ के जनसाधारण से जोड़ने और परायेपन से मुक्त करने की दिशा में कोश और अनुवाद के क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य किया। उन्होंने सबसे पहले अपने धर्म की पारिभाषिक शब्दावली का एक लघु कोश *ए टेक्निकल इंग्लिश-हिन्दी ग्लॉसरी* (1955 ई.) प्रकाशित किया और इसके व्यापक स्वागत से प्रेरित होकर एक बड़ा कोश तैयार करने की योजना बनाई। उनका *अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश* (1968 ई.) इसी योजना का परिणाम है। यह हिन्दी में अपने विषय का सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक उपयोगी कोश है।

कोश की तरह ही उनकी हिन्दी-साधना का दूसरा शीर्ष उनकी हिन्दी *बाइबिल* है। हिन्दी *बाइबिल* चालीस वर्षों की अवधि तक विभिन्न चरणों में सम्पन्न होनेवाले अनुवाद-कार्य की गौरवशाली परिणति है। *मुक्तिदाता* (1942 ई.) इस दिशा में उनकी पहली पहल है। पहले अलग-अलग सुसमाचारों, फिर *न्यू टेस्टामेंट* के अन्य ग्रन्थों और अन्त में उनके योग से *नया विधान* (1977 ई.) के नाम से समस्त *न्यू टेस्टामेंट* या *बाइबिल* के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन और इसके बाद *ओल्ड टेस्टामेंट* के अलग-अलग ग्रन्थों के अनुवाद की दिशा में पहल, जो उनके 1982 ई. में आकस्मिक निधन के कारण पूरी नहीं हो पाई—एक बड़े लक्ष्य के प्रति समर्पित तपस्वी की कठोर श्रम-साधना का ऐसा इतिहास है, जो अपना निदर्शन स्वयं है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 1958 ई. में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् (पटना) के अनुरोध पर मॉरिस मेटरलिंक के विश्व प्रसिद्ध नाटक द ब्लूबर्ड का मूल फ्रांसीसी भाषा से *नील पंछी* के नाम से अनुवाद किया।

वे मृत्यु के कुछ महीने पूर्व तक *बाइबिल* के अनुवाद में संलग्न थे। जून, 1982 ई. में उनके दाहिने पैर की उँगली में गैंग्रीन हो गया। पहले राँची के मांडर और फिर पटना के कुर्जी के मिशन अस्पताल में उनका इलाज हुआ। कुर्जी में ही गैंग्रीन उनके दाहिने पैर में इतनी तेज़ी से फैला कि मिशन के अधिकारी चिन्तित हो उठे और उन्होंने उनको अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान, दिल्ली में 8 अगस्त को भर्ती कर दिया। उन दिनों एक ही पीड़ा उन्हें साल रही थी—वह यह कि *बाइबिल* का अनुवाद अधूरा ही रह गया है। लेकिन मृत्यु की सन्निकटता का बोध होने पर उन्होंने 15 अगस्त, 1982 ई. को फ़ादर प्रोविन्शियल पास्कल तोपना से कहा, "फ़ादर प्रोविन्शियल,

मैं ईश्वर की इच्छा सम्पूर्ण हृदय से ग्रहण करता हूँ और उनके पास जाने को तैयार हूँ। अब मुझे *बाइबिल* का अनुवाद पूरा करने की चिन्ता नहीं है। प्रभु बुलाते हैं, तो मैं प्रस्तुत हूँ।" (*स्मृति ग्रन्थ,* पृ. 25)

17 अगस्त, 1982 ई. को 8 बजे सबेरे उनका निधन हो गया और दूसरे दिन, 18 अगस्त को, दिल्ली के कश्मीरी गेट स्थित निकॉलसन क़ब्रगाह में उनको दफ़न किया गया।

फ़ादर बुल्के बड़े निश्छल और विनम्र थे। मानवमात्र के प्रति प्रेम और परोपकार उनके स्वभाव के अंग थे। वह बारम्बार यह कहते थे कि उन्हें सबसे गहरा सन्तोष तब होता है, जब वे किसी की सेवा कर पाते हैं। वे सबसे बड़े स्नेह और खुलेपन से मिलते थे। वे सबकी समस्याएँ सुनते और उनका निदान सुझाते और उनके सामने रखी गई समस्याएँ केवल वैदुषिक नहीं थीं। न जाने कितने परिवारों को उन्होंने टूटने से बचाया था और गहन निराशा के क्षणों में लोगों का धैर्य बँधाया था। उनका द्वार सभी धर्मावलम्बियों के लिए खुला था और शुक्रवार को तो जैसे वे पूरी दुनिया के लिए ख़ाली थे। उनका समृद्ध पुस्तकालय उनकी दैनिक लोकसेवा का माध्यम था। वह धार्मिक मतभेद और विद्वेष के घोर विरोधी थे। वे 1950 ई. में भारतीय नागरिक हो गए थे और अपने को भारतीय के अतिरिक्त कुछ नहीं मानते थे। उन्हें अपने ईसाई होने का उतना ही गर्व था, जितना भारतीय होने का; क्योंकि उन्हें ईसाइयत और भारतीयता में कोई विरोध नहीं दीखता था। भारतीय संस्कृति और भाषाओं की अन्तर्भूत क्षमता में उनका विश्वास इतना गहरा और दृढ़ था कि वे यहाँ के शैक्षिक-सांस्कृतिक जीवन में अंग्रेज़ी के प्रचलन को राष्ट्र और जनविरोधी मानते थे। वे विभिन्न भारतीय प्रदेशों में मातृभाषाओं में शिक्षा के पक्षधर थे, किन्तु यह भी मानते थे कि भारतीय जीवन में केन्द्रीय स्थिति हिन्दी की है। यही कारण है कि वे भारत में हिन्दी की प्रतिष्ठा के लिए आजीवन संघर्षरत रहे और उनकी छवि हिन्दी के धर्मयोद्धा की बन गई थी। किन्तु हिन्दी और आधुनिक भारतीय भाषाओं का समर्थक होने के बावजूद वे उन लोगों में नहीं थे, जो संस्कृत को अनावश्यक और महत्त्वहीन मानने लगे हैं। वे संस्कृत को भारतीय प्रज्ञा और परम्परा की कुंजी मानते थे और आवश्यक सीमा तक अंग्रेज़ी के ज्ञान को भी महत्त्व देते थे। उनका यह वाक्य प्रसिद्ध है, "संस्कृत महारानी, हिन्दी बहूरानी और अंग्रेज़ी नौकरानी है।"

अपने श्रेष्ठ मानवीय गुणों एवं भारत विद्या और हिन्दी की सेवा के लिए उन्हें अनेक राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय सम्मान प्राप्त हुए। वे बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, नागरी प्रचारिणी सभा (वाराणसी) और प्राच्य विद्या संस्थान (बड़ौदा) के आजीवन सदस्य थे। वे 1974 ई. के गणतन्त्र दिवस के अवसर पर पद्मभूषण से अलंकृत हुए थे और बेल्जियम के राजा ने उन्हें राजकीय अकादेमी का सदस्य मनोनीत किया था।

फ़ादर बुल्के घोर परिश्रमी थे। वे दूसरों के प्रति जितने सदय थे, अपने प्रति

उतने ही निर्मम। शरीर से बलिष्ठ, परम गौर और प्रलम्ब फ़ादर बाहर से जितने नीरोग लगते थे, वस्तुतः उतने नीरोग नहीं थे। उनका जन्म समय-पूर्व, सात महीने बाद, हुआ था, जिसके फलस्वरूप उन्हें बचपन से ही कम सुनाई पड़ता था। वे यह नहीं जानते थे कि संगीत की लय, तान या राग क्या हैं। गुमला में सन्त इग्नाशियुस उच्च विद्यालय में अध्यापन की अवधि में उन्हें मलेरिया हो गया था, जिसके कारण उनके कान और भी कमज़ोर हो गए थे और वे श्रवणयन्त्र लगाकर ही सुन पाते थे। दमा उनका चिर सहचर था। उन्हें पेप्टिक अल्सर था, जो उनके बुढ़ापे में ही गया। जीवन के अन्तिम वर्षों में वे उच्च रक्तचाप और हृदयरोग से पीड़ित हो गए थे। इसके बावजूद वे गैंग्रीन ग्रस्त होने के पूर्व तक विभिन्न प्रकार के कार्यों में निरन्तर संलग्न रहे।

फ़ा. बुल्के के कई ऐसे शौक़ थे, जो उनके जीवन की एकरसता को दूर करते और उन्हें साधनाकक्ष के बाहर के संसार से जोड़ते थे। उनमें से एक शौक़ था साइकिल चलाना। वे राँची की सड़कों पर अक्सर साइकिल पर देखे जाते थे। वे शुक्रवार को 3 बजे दिन की चाय-कॉफ़ी के बाद साइकिल से राँची के ग्रामीण इलाक़ों की सैर पर निकल पड़ते और गोधूलि के बाद ही लौटते। काम की ऊब मिटाने के लिए वे 'स्टेट्समैन' की वर्ग पहेली हल करते या शाम को मनरेसा हाउस के संन्यासियों के साथ ब्रिज खेलते। कभी-कभी जब आश्रम के समवयस्क संन्यासी समय बिताने के लिए साथ बैठते, तो वे बेल्जियम के दिनों में कंठाग्र ला फोंते, विक्टर ह्यूगो, गेटे, रिल्के, गज़ैले आदि की कविताएँ सुनाकर उनका मनोरंजन करते।

डॉ. बुल्के ने अपने को भारतीय जीवन और संस्कृति से इस तरह एकाकार कर लिया था कि वे भारतीयों से भी अधिक भारतीय बन गए थे। इस देश ने उन्हें जिस आत्मीयता और उदारता से अंगीकार किया था, उससे वे अभिभूत थे। एक अवसर पर उन्होंने यह कहा था :

"भगवान् के प्रति धन्यवाद, जिसने मुझे भारत भेजा है और भारत के प्रति धन्यवाद, जिसने मुझे इतने प्रेम से अपनाया है!"

(आलोचना 75, पृ. 19-20)

1. *We who were born*
In Country places
Far from Cities
And shifting faces

We have a birth right
No man can sell
And a secret joy
No man can tell.

□

2

रचना-क्षेत्र

फ़ादर कामिल बुल्के के चार रचना-क्षेत्र हैं :

(i) रामकथा
(ii) कोश
(iii) अनुवाद और
(iv) ईसाई और भारतीय धर्मदर्शन, हिन्दी एवं अन्य विषयों से सम्बन्धित उनका स्फुट लेखन।

'जीवन-प्रसंग' में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि किस प्रकार रामभक्ति पर शोध के क्रम में इसकी पीठिका के रूप में विवेचित रामकथा उनके शोध का प्रधान विषय बन गई और उन्होंने *रामकथा : उत्पत्ति और विकास* के रूप में इसका विश्वकोशात्मक निरूपण किया। बाद में उन्होंने हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी में इसके विभिन्न प्रसंगों पर अनेक शोध निबन्ध लिखे। उनके रामकथा-सम्बन्धी कार्यों ने इस विषय-सम्बन्धी दृष्टि को गम्भीर रूप से प्रभावित किया और इस पर विचार का नया परिदृश्य निर्मित किया।

उनके अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश-सम्बन्धी प्रारम्भिक कार्य (*ए टेक्निकल इंगलिश-हिन्दी ग्लॉसरी,* 1955 ई.) का प्रयोजन ईसाई मिशनरियों को ईसाई दर्शन के अंग्रेज़ी शब्दों के सही हिन्दी पर्यायों का बोध कराना था। किन्तु उनके प्रसिद्ध *अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश* का प्रयोजन केवल यही नहीं है। यह हिन्दी बोलने या हिन्दी का उपयोग करनेवाले ऐसे सभी लोगों को ध्यान में रखकर बनाया गया है, जो अंग्रेज़ी शब्दों के सही हिन्दी पर्याय और देवनागरी लिपि में उनके मानक उच्चारण जानना चाहते हैं। इस दृष्टि से यह हिन्दी-भाषी भारतीयों को अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ी माध्यम से हिन्दी सीखनेवाले भारतीयों एवं अभारतीयों को हिन्दी का प्रामाणिक ज्ञान करानेवाला श्रेष्ठ कोश है। अपनी इस विशेषता के कारण यह अनुवादकों का सबसे विश्वसनीय और लोकप्रिय कोश प्रमाणित हुआ है। अपनी वैज्ञानिकता और विशिष्ट प्रविधि के कारण यह अंग्रेज़ी-हिन्दी कोशों की परम्परा में न केवल आदर्श कोश है, बल्कि बाद के अंग्रेज़ी-हिन्दी कोशों के लिए आदर्श और चुनौती भी बन गया है।

डॉ. बुल्के का तीसरा रचना-क्षेत्र अनुवाद है। कभी अनुवाद द्वितीय श्रेणी का रचना कर्म माना जाता था, किन्तु आज यह बहुत-सारे कारणों से मूल लेखन का

प्रतिस्पर्द्धी बन गया है। फ़ा. बुल्के ने अनुवाद को जिन कारणों से अपनी जीवनव्यापी हिन्दी सेवा के अंग के रूप में ग्रहण किया, उनमें दो मुख्य हैं—हिन्दी भाषा की क्षमता का बहुविध विकास और दो भिन्न धार्मिक समुदायों के बीच सांस्कृतिक सेतु का निर्माण। इस दृष्टि से उनका कोश, एक बड़े अर्थ में, उनका अनुवाद-सम्बन्धी कार्य ही है। *मुक्तिदाता* के नाम से *द सेवियर* का भाषान्तरण, उपविधियाँ आदि पुस्तिकाएँ, मॉरिस मेटरलिंक का *नील पंछी* और विभिन्न चरणों में प्रस्तुत समग्र *बाइबिल* का *पवित्र बाइबिल* के नाम से अनुवाद उनके विशाल अनुवाद-साहित्य के अंग हैं। इनमें उनकी *पवित्र बाइबिल* अनुवाद विज्ञान की एक श्रेण्य और कालजयी उपलब्धि है।

डॉ. बुल्के का चौथा रचना-क्षेत्र स्फुट लेखन का है, जिसके अन्तर्गत मुख्यतः हिन्दी भाषा, ईसाई धर्म, भारतीय दर्शन और संस्कृति तथा तुलनात्मक धर्मदर्शन-जैसे विषय आते हैं। इस प्रकार के लेखन का परिमाण अधिक नहीं है, किन्तु इससे हिन्दी, संस्कृत और भारतीय भाषा मात्र की क्षमता और महिमा-सम्बन्धी उनके विचारों, उनकी गहरी धर्मनिष्ठा और प्रखर बौद्धिकता, भारतीय परम्परा में उनकी श्रद्धा और मानव मात्र की समानता में उनके दृढ़ विश्वास का पता चलता है। इससे यह भी पता चलता है कि वे कैसे सुलझे हुए विचारक और प्रतिबद्ध मानवतावादी थे। उनके स्फुट लेखन का एक गौण भाग उनका रचनात्मक लेखन है। परिमाण में बहुत कम होने के बावजूद इसका एक विशेष महत्त्व है—वह यह कि इसके माध्यम से उनके व्यक्तित्व के नए आयाम—उनकी गहरी संवेदनशीलता और कवित्व—की अभिव्यक्ति हुई है।

□

3

रामकथा-सम्बन्धी कार्य

रामकथा और वाल्मीकि

डॉ. कामिल बुल्के की अक्षय कीर्ति का सबसे बड़ा आधार रामकथा-सम्बन्धी उनके कार्य हैं। उनके जीवन का सर्वाधिक भाग इसी विषय के सन्धान में व्यतीत हुआ। वे बारम्बार इस विषय की ओर लौट कर आते रहे और शोध के दौरान संकलित नई सामग्री के आधार पर अपने विश्वप्रसिद्ध ग्रन्थ *रामकथाःउत्पत्ति और विकास* का संशोधन-परिवर्द्धन करते रहे। उनके जीवनकाल में इसके तीन संस्करण प्रकाशित हुए और मृत्यु के पूर्व उन्होंने इसके चौथे संस्करण की पांडुलिपि में कुछ छूटी हुई प्रविष्टियों और उपलब्ध नई सामग्री का समावेश किया। वस्तुतः रामकथा उनके जीवन का सबसे बड़ा केन्द्र थी और इसके कारण थे—इसकी मार्मिकता, आदर्शमूलक नैतिक स्वभाव और इसकी वह भक्तिभावना जो परवर्ती राम-साहित्य, विशेषतः तुलसी के *रामचरितमानस* में अभिव्यक्त हुई है। किन्तु रामकथा में अपनी संलग्नता को वे अपनी नियति या ईश्वरीय विधान भी मानते थे। इस कथा के प्रति उनका आकर्षण सबसे पहले तुलसीदास के कारण उत्पन्न हुआ, जिनकी कुछ पंक्तियाँ उन्होंने एक जर्मन ग्रन्थ में अनुवाद में पढ़ी थीं और अभिभूत हो उठे थे, "क्या मुझे उस समय अदृष्ट का संकेत मिल रहा था कि मैं उस कवि के देश में जाकर बस जाऊँगा, उसकी रचना से मोहित होकर उसके साहित्य का विशेष अध्ययन करूँगा, उसी काव्य के कथानक पर अनुसंधान करूँगा?" (*मेरे अपने तुलसी* : मंथन, पृ. 168) जब वे अपने गुरु डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के आग्रह पर, डॉ. माताप्रसाद गुप्त के निर्देशन में, रामभक्ति पर शोध करने लगे, तो विषय की भूमिका के रूप में संकलित रामकथा की सामग्री के बढ़ते विस्तार को भी उन्होंने एक ऐसे ही संयोग या ईश्वरीय संकेत के रूप में देखा। अपने एक साक्षात्कार में वे कहते हैं :

> "इसकी (अर्थात् रामभक्ति की) भूमिका के रूप में मुझे रामकथा के विकास-क्रम पर भी विचार करना था।...भूमिका की सामग्री मेरे शोध निर्देशक डॉ. माताप्रसाद गुप्त को इतनी रोचक लगी कि उन्होंने मुझसे रामकथा के अलग-अलग प्रसंगों का विकास लिखने को कहा। लिखने लगा, तो प्रत्येक प्रसंग का इतिहास स्पष्ट होता गया। वास्तव में, मेरी पुस्तक *रामकथा* का वैशिष्ट्य विविध प्रसंगों का

निरूपण है। इस विषय पर काम करते हुए भूमिका की सामग्री इतनी विस्तृत हो गई कि मुझे अपना विषय बदलने की अनुमति मिल गई।"

(आलोचना 75, पृ. 11-12)

डॉ. बुल्के ने अपने रामकथा-सम्बन्धी शोध प्रवन्ध *रामकथा : उत्पत्ति और विकास* और शोध-निबन्धों में जिन विषयों पर मुख्य रूप से विचार किया है, वे हैं—रामकथा की उत्पत्ति, मौखिक परम्पराओं में उपलब्ध रामगाथाओं का वाल्मीकि द्वारा संग्रथन और प्रबन्ध काव्य के रूप में विधान, *वाल्मीकि-रामायण* का प्रामाणिक पाठ, वाल्मीकि का परवर्ती भारतीय और एशियाई साहित्य एवं संस्कृति पर प्रभाव, रामकथा की विभिन्न परम्पराएँ, रामकथा के विकास के सोपान, भारतीय और विदेशी राम-साहित्य एवं रामकथा के प्रसंगों और चरित्रों का विकास। यदि रामकथा-सम्बन्धी पूर्ववर्ती अनुसन्धान की दृष्टि से देखें, तो इनमें *वाल्मीकि-रामायण* के प्रामाणिक पाठ के सिवा अन्य किसी विषय पर फ़ा. बुल्के से पहले व्यवस्थित, वैज्ञानिक और निर्णायक रूप में विचार नहीं हुआ था। यह सही है कि उनके शोध प्रबन्ध और निबन्धों में जिस आधार सामग्री का उपयोग हुआ है, वह पहले से ही उपलब्ध थी, किन्तु उसे विभिन्न भारतीय और विदेशी स्रोतों से संकलित कर, उसके एक-एक तथ्य और अभिप्राय को जोड़ते हुए, सुनिश्चित निष्कर्षों तक ले जाने का कार्य अकेले उनका है। यही कारण है कि उनके *रामकथा : उत्पत्ति और विकास* और निबन्धों द्वारा न केवल रामकथा-सम्बन्धी बहुत-सी समस्याओं का समाधान होता है, बल्कि इस कथा के अन्तरराष्ट्रीय प्रसार और व्यापक प्रभाव का उद्घाटन भी। कहना नहीं होगा, फ़ा. कामिल बुल्के के कार्यों ने रामकथा पर सोच-विचार का पूरा परिदृश्य वदल दिया है।

यहाँ उनके रामकथा-सम्बन्धी अनुसन्धान के प्रमुख प्रसंगों पर विचार किया जा रहा है।

रामकथा की उत्पत्ति और स्वरूप

रामकथा के महत्त्व और व्यापकता के कारण प्राचीन काल से ही इसके स्रोत या आधार-सम्बन्धी कई सिद्धान्त प्रचलित रहे हैं। इसमें से एक सिद्धान्त यह है कि यह कथा वेदकालीन है, क्योंकि वैदिक साहित्य में इसके अनेक प्रमुख पात्रों के नाम मिलते हैं। इनमें सबसे अधिक सामग्री सीता के विषय में मिलती है। सम्बन्धित सामग्री पर विचार करने के बाद डॉ. बुल्के इस निष्कर्ष पर आते हैं कि यह कथा वैदिक नहीं है।

इस प्रसंग में बुल्के सबसे पहले वेदों में उल्लिखित इक्ष्वाकु, दशरथ, राम, अश्वपति और जनक—जैसे नामों पर विचार करते हैं। *ऋग्वेद* (10/60/4) और *अथर्ववेद* (19/39/9) में इक्ष्वाकु नाम के राजा की चर्चा मिलती है। *ऋग्वेद* की एक दानस्तुति (1/126/4) में अन्य राजाओं के साथ दशरथ की भी प्रशंसा की गई है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि किसी भी जगह इक्ष्वाकु और दशरथ के

परस्पर-सम्बन्ध की कोई सूचना नहीं मिलती।

यही बात राम-सम्बन्धी उल्लेखों के विषय में सच है। वैदिक साहित्य में उल्लिखित राम हैं—राम नामक एक राजा (ऋ. 10/93/4); श्यापर्ण कुल के ब्राह्मण राम (*ऐतरेय ब्राह्मण*, 7/27-34), राम औपतस्विनि नामक आचार्य (*शतपथ ब्राह्मण*, 4/6/1/7) और रामक्रातुजातेय वैयाघ्रपथ (*जैमिनीय उपनिषद्*, 3/7/3/2; 4/9/1/1)। स्पष्ट है, ये राम कोई एक व्यक्ति नहीं हैं। इससे अधिक-से-अधिक यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि "प्राचीनतम वैदिक काल से ही राजाओं और ब्राह्मणों, दोनों में 'राम' नाम प्रचलित था।" (*रामकथा*, पृ.3)

रामकथा के पात्रों में एक नाम अश्वपति का है। *शतपथ ब्राह्मण* (10/6/1/2) और *छान्दोग्य उपनिषद्* (5/11/4) में वैश्वानर तत्त्व के एक बड़े ज्ञाता के रूप में अश्वपति कैकेय की चर्चा हुई है। लेकिन वहाँ भी "रामकथा के पात्रों से (उनके) सम्बन्ध की सूचना नहीं होती।" (वही : पृ.4)

डॉ. बुल्के ने जनक-सम्बन्धी जिन उल्लेखों पर विचार किया है, वे हैं—सवित्राग्नि यज्ञ के फल की जिज्ञासा से देवताओं के पास जानेवाले जनक (*तैत्तिरीय आरण्यक*, 3/10/9), याज्ञवल्क्य को उपदेश देनेवाले जनक वैदेह (*शतपथ ब्राह्मण*, 11/3/1/2-4, 11/4/3/20 आदि), याज्ञवल्क्य से उपदेश प्राप्त करनेवाले जनक (*बृहदारण्यक*, 4/1/1), यज्ञ में याज्ञवल्क्य को एक हज़ार गायों का पुरस्कार देने की प्रतिज्ञा कर बुलानेवाले जनक वैदेह (*जैमिनी ब्राह्मण* 2/76-77), बुडिल को गायत्री का प्रवचन देनेवाले जनक (*बृहदारण्यक*, 5/4/14/8) आदि।

यह सही है कि रामकथा के अन्य पात्रों की तुलना में जनक वैदेह के विषय में प्राप्त उल्लेखों की संख्या अधिक है। किन्तु कठिनाई यह है कि, "वैदिक साहित्य में कहीं भी इसका उल्लेख नहीं मिलता कि सीता जनक की पुत्री हैं अथवा राम उनके जामाता हैं।" (वही, पृ. 6)

फ़ा. बुल्के ने सबसे अधिक विस्तार से वैदिक साहित्य के सीता-सम्बन्धी उल्लेखों की समीक्षा की है। (*रामकथा*, पृ. 6-23) उनके अनुसार, इन उल्लेखों का सम्बन्ध दो सीताओं से है—सीता सावित्री और कृषि की अधिष्ठात्री देवी सीता।

सीता सावित्री का उल्लेख कृष्ण-यजुर्वेद के *तैत्तिरीय ब्राह्मण* (2/3/10) में मिलता है। वहाँ यह बताया गया है कि प्रजापति की सीता और श्रद्धा नामक पुत्रियाँ सोम से प्रेम करती हैं, किन्तु सीता, स्थागर अंगराग के प्रयोग के द्वारा, सोम का प्रेम प्राप्त करने में सफल हो जाती है। *तैत्तिरीय* के इस उपाख्यान में स्थागर अंगराग के प्रयोग द्वारा प्रेमी का हृदय जीतने में सफलता के उदाहरण के रूप में इस घटना का उल्लेख किया गया है।

सीता सावित्री की तुलना में कृषि की देवी सीता से सम्बन्ध रखनेवाले उल्लेखों की संख्या कहीं अधिक है। *ऋग्वेद* में सीता का उल्लेख इस प्रकार है :

इंद्रः सीतां निगृणहातु तां पूषानुयच्छतु।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ 4/7

(इन्द्र सीता को ग्रहण करे, पूषा (सूर्य) उसका संचालन करे। वह पानी से भरी (सीता) प्रत्येक वर्ष हमें (धान्य) प्रदान करती रहे।)

यह सीता के प्रति प्राचीनतम वैदिक प्रार्थना है, इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में सीता-सम्बन्धी दो अन्य प्रार्थनाएँ मिलती हैं—सीरां युंजंति (*यजुर्वेद* और *अथर्ववेद*) और कौशिक सूत्र की सीता-सम्बन्धी विस्तृत प्रार्थना—वित्तिरसि पुष्टिरसि प्राजापत्यानां (तेरहवाँ अध्याय)। (*अद्भुत रामायण* से पता चलता है कि दो लाँगलों के उलझ जाने पर अपशकुन दूर करने के लिए यह प्रार्थना की जाती थी।) खेती के लिए हल (सीरा) जोड़ते समय 'सीरां युंजंति' का पाठ होता था। गृह्य सूत्रों में, जैसे, *अग्निवेश्य* और *बोधायन* में सीता की प्रार्थना मिलती है। *पारस्कर* (2/17), *काठक* (71/7) और *गोमिल* (4/4/30) नामक गृह्यसूत्रों में सीता-यज्ञ की चर्चा हुई है। *महाभारत* (द्रोण पर्व) और *हरिवंश* (2/3) के कृषिदेवी-विषयक उल्लेख भी इस प्रसंग में महत्त्व रखते हैं।

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि वैदिक युग में सीता कृषि की अधिष्ठात्री देवी थीं। इनके आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि वाल्मीकि की अयोनिजा सीता की अवधारणा सीता की वैदिक अवधारणा से प्रभावित है। किन्तु इससे यह भी पता चलता है कि वैदिक सीता रामकथा की जनकपुत्री सीता नहीं है। वह अन्य वैदिक देवियों की तरह मानवी न होकर प्राकृतिक घटनाओं का मानवीकरण हैं।

> "इस तरह हम देखते हैं कि वैदिक रचनाओं में रामायण के एकाध पात्रों के नाम अवश्य मिलते हैं, लेकिन न तो इनके पारस्परिक सम्बन्ध की कोई सूचना दी गई है और न इनके विषय में रामायण की कथावस्तु का किंचित् भी निर्देश किया गया है। जनक और सीता का बार-बार उल्लेख होने पर भी दोनों का पिता-पुत्री-सम्बन्ध कहीं भी निर्दिष्ट नहीं हुआ है।" (*रामकथा* : पृ. 24)

फ़ा. बुल्के रामकथा को वैदिक काल के बाद की एक ऐतिहासिक कथा मानते हैं। वह उन विद्वानों से सहमत नहीं है, जो इसका मूल *दशरथ जातक* या होमर में ढूँढ़ते, इसे आधा रूपक और आधा इतिहास मानते अथवा एक से अधिक, स्वतन्त्र रूप में प्रचलित, कथाओं का योग सिद्ध करते हैं। यहाँ इस सम्बन्ध में प्रचलित पूर्व मतों और फ़ा. बुल्के द्वारा उनके खंडन का उल्लेख किया जा रहा है।

सबसे पहले ए. वेबर ने अपनी पुस्तक (*ऑन द रामायण*) में यह प्रतिपादित किया है कि रामकथा के दो मूल स्रोत हैं—*दशरथ जातक* और *इलियड*। उनके अनुसार, *दशरथ जातक वाल्मीकि-रामायण* से पहले की, तीसरी शताब्दी ई.पू. की, रचना है। *दशरथ जातक* में राम वाराणसी के राजा दशरथ के पुत्र हैं, जो विमाता के

षड्यन्त्र के कारण अपने भाई लक्ष्मण और बहन सीता के साथ हिमालय में वनवास करते हैं। वह वनवास के बाद अयोध्या लौटने पर सीता से विवाह करते और सोलह हज़ार वर्ष शासन करते हैं। इस कथा में सीताहरण, लंका और राम-रावण-युद्ध का कहीं उल्लेख नहीं आया है। वेबर का तर्क है कि वाल्मीकि की कथा में राजधानी अयोध्या कर दी गई है, वनवास का स्थान दंडकारण्य कर दिया गया है और सीता को एक अन्य राजा की पुत्री बना दिया गया है। इसमें सीताहरण का वृत्तान्त जोड़ा गया है, जो होमर के इलियड में वर्णित पोरस द्वारा हेलेन के अपहरण और ट्रॉय के युद्ध पर आधारित है।

फ़ा. बुल्के ने *रामकथा* के छठे अध्याय में पूरे विस्तार से (पृ. 78-101) इस विषय पर विचार किया है। उन्होंने इस अध्याय में *दशरथ जातक* के उपलब्ध रूप की प्राचीनता का खंडन करते हुए यह सिद्ध किया है कि यह रामकथा का विकृत रूप है। वे *वाल्मीकि-रामायण* पर इलियड के प्रभाव का भी खंडन करते हैं। वे स्त्री-हरण और इसके कारण होनेवाले युद्ध को इतिहास की एक सुपरिचित और सामान्य घटना मानते हैं। वे इस प्रकार की घटना के लिए शुद्ध अनुमान या स्थूल समानता पर आधारित किसी दूरवर्ती स्रोत की बात को बेबुनियाद मानते हैं।

एक अन्य यूरोपीय विद्वान् हरमन याकोबी रामकथा के पूर्वार्ध को इतिहास और उत्तरार्ध को रूपक मानते हैं। उनके अनुसार इसका आधा भाग अयोध्या की घटनाओं पर आधारित वनवास के पूर्व की कथा है, जो मूलतः इतिहास है। इसका दूसरा आधा भाग सीताहरण और राम रावण युद्ध की कथा है, जो *ऋग्वेद* के इन्द्र-वृत्र युद्ध का रूपान्तर है। फ़ा. बुल्के इस मत का खंडन करते हुए यह सिद्ध करते हैं कि रामकथा के दोनों भाग इतने सुसम्बद्ध हैं कि इसके दूसरे भाग की व्याख्या के लिए उसके किसी अतिप्राकृत स्रोत की कल्पना निराधार है। (*रामायण : इट्स हिस्ट्री एंड करेक्टर*, पृ. 57)

रामकथा की उत्पत्ति के विषय में डॉ. दिनेशचन्द्र सेन का मत यह है कि इसका विकास क्रमशः राम, रावण और हनुमान-सम्बन्धी गाथाचक्रों के संयोग से हुआ है। उनके अनुसार इसका एक स्रोत उत्तर भारत में प्रचलित *दशरथ जातक* है। इसका दूसरा स्रोत, दक्षिण भारत का रावण-विषयक आख्यान है और तीसरा स्रोत, हनुमान-सम्बन्धी वह सामग्री, जो वानर पूजा का अवशेष है। (*द बंगाली रामायण्स*, पृ. 26-41, कलकत्ता, 1920 ई.)

यहाँ डॉ. दिनेशचन्द्र सेन द्वारा प्रस्तावित प्रथम स्रोत *दशरथ जातक* की प्राचीनता पर पुनः विचार करने की आवश्यकता नहीं है। इसके जिस गद्य भाग में रामकथा आई है, वह भाग ईसा की पाँचवीं शताब्दी की "एक सिंहली पुस्तक का अनुवाद है।... इसके अज्ञात लेखक का कहना है कि मैंने अनुराधापुर की परम्परा के आधार पर इसकी रचना की है।" (*रामकथा* : पृ. 79) अतएव इसके रचनाकाल को

देखते हुए इसे वाल्मीकि रामकथा का स्रोत मानना निराधार है।

डॉ. सेन रावण-सम्बन्धी जिस स्वतन्त्र गाथाचक्र का अस्तित्व मानते हैं, वह स्वतन्त्र नहीं है। जैन स्रोतों में रामकथा के सन्दर्भ में ही रावण-सम्बन्धी उल्लेख उपलब्ध होते हैं। डॉ. सेन ने केवल हेमचन्द्र के आधार पर राक्षस-वंश और वानर-वंश का उल्लेख किया है और इस उल्लेख के आधार पर यह सिद्ध किया है कि राम की तुलना में राक्षसों और वानरों की लोकप्रियता कहीं अधिक थी। वे अपनी मान्यता के समर्थन में बौद्ध ग्रन्थ *लंकावतार सूत्र* का भी उल्लेख करते हैं, जिसमें रावण और भगवान् बुद्ध का संवाद मिलता है। परन्तु इस ग्रन्थ में राम-रावण युद्ध की चर्चा तक नहीं है। यों भी *लंकावतार सूत्र* ईसवी सन् की चौथी शताब्दी की रचना है और जी. टी. सुजुकि के अनुसार इसका रावण-बुद्ध संवाद 'प्रक्षिप्त' है। (*स्टडीज़ इन द लंकावतार सूत्र*, लन्दन, 1930 ई.)

डॉ. सेन हनुमान-विषयक आख्यान-काव्य के प्रचलन का उल्लेख करते हैं, किन्तु इसके पक्ष में कोई प्रमाण नहीं देते। डॉ. बुल्के हनुमान की लोकप्रियता को एक परवर्ती घटना मानते हैं, क्योंकि यदि वे वास्तव में प्राचीन काल में प्रसिद्ध होते, तो इसकी प्रतिध्वनि वैदिक या बौद्ध साहित्य में अवश्य सुनाई देती।

इस प्रकार रामकथा न कोई कल्पित या रूपकात्मक कथा है और न विभिन्न स्रोतों में उपलब्ध सामग्री का संयोजन। इसके पात्र और घटनाएँ अतीत के वास्तविक पात्र और घटनाएँ हैं। इसके साक्ष्य *महाभारत* और बौद्ध ग्रन्थों में मिल जाते हैं। *महाभारत* में वाल्मीकि, उनके राम-काव्य और रामकथा का बार-बार उल्लेख हुआ है। शान्तिपर्व के षोडशराजोपाख्यान में रामकथा का समावेश यह बतलाता है कि *महाभारत*कार राम की गणना सोलह ऐतिहासिक राजाओं में करते हैं। बौद्ध साहित्य के *अनामकजातकम्* और *दशरथकथानकम्* में भी रामकथा मिलती है। ये सभी साक्ष्य यह संकेत करते हैं कि यह कथा ऐतिहासिक है और बहुत प्राचीन काल में जनसामान्य के बीच इस पर आधारित आख्यानकाव्य प्रचलित हो गया था, "बौद्ध त्रिपिटक, *महाभारत* तथा *रामायण* के अनुशीलन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक काल के बाद चौथी शताब्दी ई. पू. के कई शताब्दियों पहले रामकथा-विषयक आख्यान-काव्य की उत्पत्ति हुई थी।" (*वाल्मीकि और रामकथा की दिग्विजय* : मंथन, पृ. 2)

उनके अनुसार, इस बात का साक्ष्य स्वयं वाल्मीकि में मिल जाता है। वाल्मीकि कहते हैं :

इक्ष्वाकूणामिदं तेषां राज्ञावंशे महात्मनाम्।
महदुत्पन्नमाख्यानं रामायणमितिक्तुनम्॥ (बालकांड, 3/3)

हरिवंश में भी इस कथा की पुरानी गाथाओं का उल्लेख किया गया है :

गाथा अन्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः। (अध्याय 41, श्लोक 149)

गाथाओं के रूप में लोक में प्रचलित इस कथा को वाल्मीकि ने एक सुसम्बद्ध काव्य का रूप प्रदान किया। उनकी प्रतिभा इतनी असाधारण थी कि उनका यह काव्य कालजयी बन गया और उसने परवर्ती भारतीय और एशियाई साहित्य को बड़ी गहराई से प्रभावित किया। उन्होंने अपने काव्य में रामकथा की करुण रसात्मकता और नैतिक मूल्यों का सरल शक्तिशाली भाषा में ऐसा समन्वय किया कि वह 'कल्पान्तस्थायी' हो गया।

वाल्मीकि और उनके *रामायण* काव्य की महिमा शताब्दियों से सर्वमान्य रही है, किन्तु वाल्मीकि का व्यक्तित्व और उनके काव्य का मूल स्वरूप—ऐसी समस्याएँ हैं, जिनका निदान किए बिना रामकथा के विकास-सम्बन्धी बहुत-से प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं। फ़ा. बुल्के ने इन दोनों पर विचार किया है।

वाल्मीकि का व्यक्तित्व

डॉ. कामिल बुल्के का वाल्मीकि-सम्बन्धी विवेचन *रामकथा* (प्रथम संस्करण) के अतिरिक्त उनके दो अंग्रेज़ी निबन्धों 'अबाउट वाल्मीकि' और 'मोर अबाउट वाल्मीकि' तथा हिन्दी निबन्ध 'वाल्मीकि का जीवन चरित्र' में उपलब्ध है। किन्तु *रामकथा* के तीसरे संस्करण (पृ. 32-45) में इससे सम्बन्धित समस्त सामग्री एकत्र उपलब्ध हो जाती है।

वाल्मीकि-रामायण के प्रामाणिक पाठ में युद्धभाग की फलश्रुति में वाल्मीकि को इसका रचयिता कहा गया है—आदिकाव्यमिदं चार्ष पुरा वाल्मीकिना कृतम्। (श्लोक 105) इसके बालकांड और उत्तरकांड में भी यही बात कही गई है। *महाभारत* के द्रोणपर्व (118/48) और शान्तिपर्व (200/4) में वाल्मीकि को रामायण का रचयिता कहा गया है। परम्परा से प्रसिद्ध इस बात की सर्वमान्यता सदियों से स्थापित रही है, किन्तु उनके कुल और जीवन के विषय में कुछ भी निश्चयपूर्वक कहना असम्भव है।

प्राचीन ग्रन्थों में वाल्मीकि नामक कई व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है; जैसे, वैयाकरण वाल्मीकि (*तैत्तिरीय प्रातिशाख्य*; 5/36), विष्णुभक्त गरुड़वंशी सुपर्ण वाल्मीकि (*महाभारत*, उद्योगपर्व) और महर्षि वाल्मीकि (*महाभारत*, आदिपर्व और सभापर्व)। आदिकवि से इनका सम्बन्ध स्थापित करना कठिन है, यद्यपि बाद में वाल्मीकि का महर्षि के रूप में भी उल्लेख किया जाने लगा।

वाल्मीकि-रामायण में बाद में जोड़े गए बाल और उत्तर कांडों में महाकवि के विषय में कई सूचनाएँ मिलती हैं। उन्हें बालकांड में तपस्वी (1/1), मुनि (2/4) और महर्षि कहा गया है, जो तमसा और गंगा के समीपवर्ती आश्रम में रहते हैं। इस कांड में नारद द्वारा उन्हें सुनाई गई रामकथा, क्रौंचवध के बाद ब्रह्मा के आदेश से श्लोकों में रामकथा की रचना और अपने दो कुशीलव शिष्यों को राम-काव्य सिखलाकर लोक में उसके प्रचार करने के उल्लेख मिलते हैं। उत्तरकांड में राम द्वारा परित्यक्त सीता का

उनके आश्रम में निवास, कुश और लव का जन्म आदि वृत्तान्त मिलते हैं। इन कांडों में उन्हें प्रचेतापुत्र और भार्गव कहा गया है।

वाल्मीकि और वल्मीक (बाँबी) के शब्द-साम्य के कारण भी उनके विषय में कई कथाएँ प्रचलित हुई हैं। इन कथाओं का स्वरूप वही है, जो *महाभारत* के च्यवन ऋषि की कथा का है। इस साम्य के कारण वाल्मीकि को भार्गव कहा गया और उन्हें कभी च्यवन का भाई, तो कभी उनका पुत्र बना दिया गया।

ईस्वी सन् के बहुत बाद दस्यु वाल्मीकि की कथा प्रारम्भ हुई। *स्कन्दपुराण* में व्याध वाल्मीकि (वैष्णव खंड), अग्निशर्मा नामक दस्यु वाल्मीकि (अवन्तीखंड), लोहजंघ द्विज नामक दस्यु वाल्मीकि (नागरखंड) और वैशाख नामक चोर वाल्मीकि (प्रभासखंड) की कहानियाँ मिलती हैं। *अध्यात्म रामायण* (6/42-88) की यह कथा अधिक लोकप्रिय है कि किस प्रकार वाल्मीकि अपने आश्रम में राम, लक्ष्मण और सीता को अपने दस्यु जीवन और रामनाम के उलटे 'मरा' के जाप से अपने उद्धार का वृत्तान्त सुनाते हैं। दस्यु वाल्मीकि की कथा *तत्त्वसंग्रह रामायण, आनन्द रामायण* और *कृत्तिवासी रामायण* में भी मिलती है।

किन्तु इन सबसे भिन्न परम्परा भंगियों के साथ वाल्मीकि के सम्बन्ध की है। *भक्तमाल* में उन्हें श्वपच कहा गया है। उत्तर भारत के हिन्दू भंगी वाल्मीकि और मुसलमान भंगी, वाल्मीकि को ब्रह्मा द्वारा दिए गए वस्त्र से उत्पन्न लालबेग को अपना गुरु मानते हैं।

वाल्मीकि-सम्बन्धी ये उल्लेख इतने विविध और परस्पर भिन्न हैं कि इनमें महाकवि के व्यक्तित्व को ढूँढ़ पाना असम्भव है। इस सम्बन्ध में डॉ. बुल्के का निष्कर्ष यह है कि, "इस महान् कवि के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री का नितान्त अभाव है।" (*रामकथा* : 32) किन्तु वे यह भी कहते हैं कि प्राप्य साक्ष्यों के आधार पर वाल्मीकि के आदिकाव्य के रचनाकार होने की बात निर्विवाद है। उनके अनुसार, यह भी निर्विवाद है कि वे कौशल के थे और काव्योपजीवी कुशीलव उनके शिष्य थे, जो घूम-घूमकर उनका काव्य सुनाया करते थे। इन बातों के अतिरिक्त उनके विषय में उपलब्ध उल्लेखों के समर्थन में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

वाल्मीकि-रामायण के तीन पाठ

पहले यूरोपीय विद्वान् यह मानते थे कि *वाल्मीकि-रामायण* ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दी ई.पू. की रचना है, किन्तु आदिकाव्य के विभिन्न पाठों की तुलना और मूल पाठ के निर्धारण के प्रयत्नों द्वारा यह बात सामने आई है कि इसकी रचना तीसरी शताब्दी ई.पू. के आसपास हुई है। फ़ा. बुल्के के अनुसार, "इस निर्णय (*रामायण* के रचनाकाल के तीन सौ ई.पू. होने) की पुष्टि इससे भी होती है कि पाणिनि में *रामायण*,

वाल्मीकि अथवा *रामायण* के प्रमुख पात्रों दशरथ, राम, लक्ष्मण, भरत, हनुमान, सुग्रीव, विभीषण आदि का उल्लेख नहीं होता। लेकिन उनके समय में रामकथा प्रचलित होगी क्योंकि सूत्रों में कैकेयी (7,3,2), कौशल्या (5,1,155) तथा शूर्पणखा (6,2,122) की ओर संकेत मिलते हैं।" (*रामकथा,* पृ. 32)

वाल्मीकि-रामायण के मूल स्वरूप और प्रामाणिक पाठ की समस्या पर फ़ा. बुल्के के विचार आदिकाव्य के विशेषज्ञ और सामान्य पाठक, दोनों के लिए उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हैं। ये विचार उनकी *रामकथा* (पृ. 23-30) के अतिरिक्त उनके अंग्रेज़ी निबन्ध "द थ्री रिसेन्शन्स ऑव द वाल्मीकि रामायण" (जर्नल ऑव ओरियंटल *इन्स्टिट्यूट,* भाग 19, पृ. 1-32; 1949) और "द जनेसिस ऑव द वाल्मीकि-रामायण रिसेन्शन्स" (वही, भाग 5, पृ. 66-99; 1955) तथा हिन्दी निबन्ध 'वाल्मीकि-रामायण के तीन पाठ' (*मंथन,* पृ. 22-55) में उपलब्ध हैं। उनके अनुसार, आदिकाव्य की उपलब्ध प्रतियों में पाठ और प्रसंग, दोनों से सम्बन्धित भेद मिलते हैं। इसका कारण यह है कि यह काव्य "कई शताब्दियों तक मौखिक रूप में प्रचलित रहा और बाद में विभिन्न परम्पराओं के आधार पर लिपिबद्ध किया गया।" (*रामकथा और तुलसीदास,* पृ. 19) इसके बाल और उत्तर कांडों में यह साक्ष्य मौजूद है कि वाल्मीकि ने अपने शिष्य कुशीवलों को इसे ऋषियों के आश्रमों, बाज़ारों, ब्राह्मणों के घरों, सड़कों, राजमार्गों और जनसाधारण के घरों में सुनाने का आदेश दिया। (उत्तर. 63/4-5) कुशीलवों की परम्परा शताब्दियों तक इसे देश के कोने-कोने में घूमकर सुनाती रही। स्वभावतः समय बीतने के साथ-साथ इसका आकार बढ़ता गया और उसमें पाठ-भेदों का समावेश होता गया। आज इसके तीन पाठ मिलते हैं—दाक्षिणात्य, गौड़ीय और पश्चिमोत्तरीय, जो क्रमशः गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई (1912 ई.), जी. गोरेसियो के सम्पादन में पेरिस (1843 ई.) और डी.ए.वी. कॉलेज, लाहौर (1923) से छपे हैं। तीनों में बहुत अन्तर है, किन्तु तीनों के विश्लेषण द्वारा मूल पाठ तक पहुँचा जा सकता है।

फ़ा. बुल्के इन पाठों की तुलना निम्नलिखित आधारों पर करते हैं :

(अ) वह सामग्री जो दाक्षिणात्य पाठ में है और शेष एक या दोनों में नहीं है।

(आ) वह सामग्री जो दाक्षिणात्य पाठ में नहीं है और शेष एक या दोनों में पाई जाती है।

(इ) अन्य पाठान्तर जो (अ) या (आ) के अन्तर्गत नहीं आते या जो कम महत्त्वपूर्ण हैं। (*मंथन,* पृ. 25)

वे उपर्युक्त आधार पर तीनों की तुलना पूरे विस्तार से करते हैं। उनका निष्कर्ष यह है कि एक ही मूल पाठ से दाक्षिणात्य और उदीच्य पाठों का अलग-अलग विकास हुआ है तथा उदीच्य पाठ का गौड़ीय और पश्चिमोत्तरीय पाठों में विभाजन हुआ है। तीनों पाठों की तुलना करने पर उनकी केवल एक-तिहाई सामग्री ही समान है और उसकी श्लोक संख्या लगभग वही है, जो तीसरी शताब्दी ई. के उत्तरार्द्ध के बौद्ध ग्रन्थ

अभिधर्ममहाविभाषा में बताई गई है अर्थात् 12000 श्लोक। बड़ौदा के प्राच्य संस्थान से प्रकाशित *रामायण* की प्रति इस सामग्री का प्रतिनिधित्व करती है। यद्यपि इसे ही अन्तिम तौर पर प्रामाणिक मानना कठिन है, फिर भी, यह तो कहा ही जा सकता है कि यह मूल *रामायण* का निकटतम रूप है।

वाल्मीकि-रामायण के प्रायः सभी विशेषज्ञ इस बात पर एकमत हैं कि बालकांड और उत्तरकांड मूल पाठ के अंग नहीं हैं, बल्कि वे बाद में उसमें जोड़े गए हैं। पहले बालकांड जोड़ा गया, जिसका प्रमाण यह है कि विभिन्न पाठों में उसका रूप एक-जैसा नहीं है, जबकि उत्तरकांड का रूप सभी पाठों में एक-जैसा है। बालकांड और उत्तरकांड को प्रक्षिप्त मानने का कारण दोनों की शैलीगत समानता है। दोनों में ऐसी पौराणिक कथाओं का समावेश हुआ है, जिनका मुख्य कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। अभिप्राय यह कि दोनों का ढाँचा एक-जैसा है और शेष कांडों का ढाँचा एक-जैसा। फ़ा. बुल्के यह भी कहते हैं कि उत्तरकांड में रामकथा से सम्बन्धित सामग्री में एकता का अभाव है, "सीता त्याग, शत्रुघ्नचरित, शम्बूकवध, राम का अश्वमेध, सीता का तिरोधान आदि में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।" (*रामकथा*, पृ. 123) इसका अर्थ यह होता है कि ये प्रसंग वाल्मीकीय नहीं हैं, बल्कि बाद में जोड़े गए हैं। युद्धकांड के अन्त में दी गई फलश्रुति से ही यह प्रमाणित हो जाता है कि आदिकाव्य यहीं समाप्त होता था—रामायणमिदं कृत्स्नं...। बालकांड के प्रथम सर्ग में दो अनुक्रमणिकाएँ मिलती हैं। प्रथम अनुक्रमणिका में "अयोध्याकांड से लेकर युद्धकांड तक के विषयों का उल्लेख किया गया है।" (वही, पृ. 122) बाद में रचना के प्रचलित स्वरूप के आधार पर एक दूसरी अनुक्रमणिका जोड़ दी गई, जिसमें बालकांड और उत्तरकांड, दोनों की सामग्री का निर्देश किया गया। किन्तु इन सारी युक्तियों के बावजूद मूल और परवर्ती सामग्री में परस्पर-विरोध क़ायम रह गए हैं; जैसे, बालकांड में लक्ष्मण और उर्मिला के विवाह का वर्णन मिलता है, जब कि अरण्यकांड में लक्ष्मण अविवाहित (अकृतदार) माने गए हैं।

फ़ा. बुल्के के अनुसार, *वाल्मीकि-रामायण* के परिवर्द्धन का एक बड़ा कारण अवतारवाद है, "रामकथा के विकास के दृष्टिकोण से प्रचलित *वाल्मीकि-रामायण* की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रक्षिप्त सामग्री अवतारवाद से सम्बन्ध रखती है।" (वही, पृ. 125) उत्तरकांड में रामावतार की भावना पूरी तरह व्याप्त है। यह भावना सम्भवतः पहली शताब्दी ई.पू. से ही लोक प्रतिष्ठित होने लगी थी। इसलिए उत्तरकांड की अधिकांश सामग्री का समावेश इसके बाद ही हुआ होगा। *वाल्मीकि-रामायण* को इस भावना के अनुरूप बनाने और लोक में रामभक्ति को दृढ़ करने के लिए नई सामग्री का समावेश आवश्यक था; किन्तु इस ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से मूल और प्रक्षेप के भेद स्पष्ट दिखाई देते हैं; जैसे, राम ब्रह्मा से कहते हैं कि मैं तो अपने को दशरथ का पुत्र और मनुष्य मानता हूँ (आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्। 6/117/11)। राक्षसों के

प्रति राम की हिंसावृत्ति के कारण सीता उनके परलोक के विषय में चिन्ता प्रकट करती हैं (अरण्य., 9/12); किन्तु जब परवर्ती काल में आदिकाव्य को अवतारवाद के अनुरूप बनाने के यत्न हुए, तो न केवल उत्तरकांड में, बल्कि प्रत्येक कांड में विष्णु के अवतार के रूप में राम-सम्बन्धी उल्लेखों को सम्मिलित किया गया। बालकांड में परशुराम राम को विष्णु कहते हैं–'*अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम्*' (1/76/17)। युद्धकांड की फलश्रुति में राम और विष्णु को अभिन्न कहा गया है–'*प्रीयते सततं रामः स हि विष्णुः सनातनः।*' (128/117)

रामकथा की परम्पराएँ

फ़ा. कामिल बुल्के के रामकथा-सम्बन्धी कृतित्व का एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग इस कथा की विभिन्न परम्पराओं का ब्यौरेवार उल्लेख और उनके अन्तःसम्बन्धों का निरूपण है। यह सच है कि उनसे पहले भी कई विद्वानों द्वारा इन परम्पराओं से सम्बन्ध रखनेवाली शोधपरक और विवेचनात्मक सामग्री प्रस्तुत हुई है, किन्तु वह या तो स्फुट है या इनके अलग-अलग प्रसंगों तक सीमित। फ़ा. कामिल बुल्के ने अपनी *रामकथा* की सहायक ग्रन्थ-सूची में इन सबका उल्लेख किया है; किन्तु उन्होंने पहले से उपलब्ध सामग्री से कई गुना अधिक सामग्री स्वयं संकलित कर अपने विवेच्य विषय को ऐसी पूर्णता प्रदान की है, जिसका अन्यत्र कोई दूसरा निदर्शन नहीं।

उनकी *रामकथा* और विभिन्न ग्रन्थों एवं निबन्धों में रामकथा की जिन परम्पराओं पर विचार किया गया है, वे हैं–(1) वाल्मीकीय, (2) बौद्ध, (3) जैन, (4) तिब्बती-खोतानी और (5) दक्षिण एशियाई। यद्यपि इनमें बौद्ध और जैन परम्पराएँ वाल्मीकीय परम्परा की तरह ही भारतीय हैं, किन्तु इनमें वाल्मीकीय परम्परा सबसे विस्तृत है। इस परम्परा की व्यापकता संस्कृत से लेकर आधुनिक भारतीय भाषाओं तक देखी जा सकती है। दक्षिण एशियाई परम्परा पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा है, किन्तु उस पर आधुनिक भारतीय आर्य और द्राविड़ भाषाओं के पुराने राम-काव्य का भी प्रभाव मौजूद है। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेख है कि दक्षिण एशियाई और तिब्बती-खोतानी क्षेत्र बौद्ध विचारधारा से गम्भीर रूप में प्रभावित रहे हैं। स्वभावतः इनके राम-साहित्य पर विचार करते समय फ़ा. बुल्के कई बार बौद्ध प्रभाव की चर्चा करते हैं, किन्तु उन्होंने यह भी निर्देश किया है कि दक्षिण एशियाई रामकथा पर वैष्णव, शैव और मुस्लिम प्रभाव भी पड़े हैं।

(1) वाल्मीकीय रामकथा-परम्परा

फ़ा. बुल्के ने *वाल्मीकि-रामायण* के विभिन्न पाठों के विश्लेषण के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार लोकप्रियता की वृद्धि के साथ उसमें नई-नई सामग्री का समावेश होता गया है। इस प्रक्रिया में एक और बात घटित हुई है। वह बात

है—राम के चरित्र का दैवीकरण और ब्राह्मण धर्म के सन्दर्भ में उनके प्रति भक्ति का विकास। इसका सबसे बड़ा उदाहरण रामभक्ति से संवलित संस्कृत का अत्यन्त विस्तृत धार्मिक साहित्य है।

फ़ा. बुल्के ने *रामकथा* के तृतीय भाग (पृ. 147-255) में सबसे पहले संस्कृत के धार्मिक और ललित साहित्य और उसके बाद आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य की रामकथा की रूपरेखा प्रस्तुत की है। यह रूपरेखा इस विषय के पूरे विस्तार को इस तरह प्रस्तुत करती है कि इन भाषाओं के राम-साहित्य के अन्तः सम्बन्ध और भेद, दोनों स्पष्ट हो जाते हैं।

(क) संस्कृत की रामकथा-परम्परा

फ़ा. बुल्के के अनुसार, यद्यपि रामावतार की भावना ईसवी सन् से पहले की है, किन्तु राम की भक्ति और उपासना की परम्परा इसके बाद की है। गुप्तकाल में राम की पूजा प्रचलित थी और *विष्णुधर्मोत्तर पुराण* (पाँचवीं शताब्दी ई.) तथा वराहमिहिर की *बृहत्संहिता* (छठी शताब्दी ई.) में राम की प्रतिमा के निर्माण-सम्बन्धी नियमों का उल्लेख है। साहित्येतिहास की दृष्टि से दक्षिण भारत के आलवार-साहित्य में सबसे पहले रामभक्ति का पल्लवन मिलता है। दक्षिण के ही रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय में रामभक्ति का शास्त्रीय निरूपण हुआ है, जिसके प्रभाव-स्वरूप राम-सम्बन्धी संहिताओं, उपनिषदों और सिद्धान्त-निरूपक ग्रन्थों की एक विस्तृत परम्परा का विकास हुआ है।

फ़ा. बुल्के रामकथा के धार्मिक और भक्ति-प्रधान संस्कृत साहित्य को तीन भागों में विभाजित करते हैं—पुराण, साम्प्रदायिक रामायण एवं अन्य। वे पुराणों में *हरिवंश* (400 ई. के आसपास) से लेकर *कालिका पुराण* (10वीं-11वीं श. ई.) तथा विभिन्न उपपुराणों की रामकथा का विश्लेषण करते हैं। यह विश्लेषण आधुनिक भारतीय भाषाओं के रामसाहित्य की कथा-सामग्री के स्रोतों की जानकारी के दृष्टिकोण से बहुत उपयोगी है। उनके विश्लेषण से यह भी पता चलता है कि पुराणों ने वाल्मीकीय रामकथा में कितना कुछ जोड़ा है और भक्तिभाव से किए गए इस योग की भूमिका, आधुनिक भारतीय भाषाओं के राम-काव्य के स्वरूप-निर्माण में, कितनी निर्णायक हो गई है। वे साम्प्रदायिक रामायणों में *योग-वासिष्ठ* (8वीं या 12वीं श. ई.), *अध्यात्म रामायण, अद्भुत रामायण, आनन्द रामायण* आदि तथा अन्य धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत *जैमिनिभारत, सत्योपाख्यान* आदि की कथा-सामग्री का विश्लेषण करते हैं। उनके अनुसार, इन रचनाओं में सर्वाधिक महत्त्व *अध्यात्म रामायण* का है।

संस्कृत की रामकथा की दूसरी परम्परा इसके ललित साहित्य की है। यह परम्परा मुख्यतः वाल्मीकि द्वारा प्रेरित महाकाव्य, नाटक आदि विधाओं में व्यक्त हुई

है। यद्यपि इन विधाओं की रचनाओं की रामकथा का वाल्मीकीय रामकथा से कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं मिलता, किन्तु "उनमें वाल्मीकि की रचना की अपेक्षा शृंगार को अधिक स्थान दिया गया है।" (वही, 185) उनमें शृंगारिकता की यह प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ती गई है।

डॉ. बुल्के संस्कृत ललित साहित्य की रामकथा-सम्बन्धी रचनाओं का वर्गीकरण काव्य, नाटक और स्फुट काव्य—इन तीन श्रेणियों में करते और उनकी मुख्य विशेषताएँ बतलाते हैं। वे संस्कृत महाकाव्यों में *रघुवंश* (कालिदास) और *सेतुबन्ध* (प्रवरसेन, 5वीं-6ठी श. ई. से लेकर *उदारराघव,* 14वीं श. ई.) तथा पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद की रामकथा-सम्बन्धी रचनाओं का परिचय देते हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद के *रामलिंगामृत* (अद्वैत कवि) की विशेषता यह है कि यह *रामचरितमानस* की समकालीन कृति है और यह वाराणसी में तुलसी के समय लिखी गई है। इसलिए डॉ. बुल्के *रामचरितमानस* के कथानक से इसकी तुलना और विभेद-निरूपण कुछ विस्तार से (पृ. 191-194) करते हैं। वह उपलब्ध रामनाटकों में भासकृत कहे जानेवाले *प्रतिमानाटक, अभिषेकनाटक* और *यज्ञफल* पर विचार करते हैं, जो उनके अनुसार वस्तुतः बहुत बाद के हैं। वे प्रामाणिक तिथिक्रम के अनुसार भवभूति-रचित *महावीरचरित* और *उत्तररामचरित,* दिङ्नाग की *कुन्दमाला* (5वीं श. ई.), मुरारि के *अनर्घराघव* (9वीं श. ई. के आसपास), *महानाटक* या *हनुमन्नाटक* (सम्भवतः 10वीं श. ई.) आदि के कथानकों की प्रमुख विशेषताओं का निर्देश करते हैं। कथानक के विचार से संस्कृत महाकाव्यों और नाटकों की तुलना करने पर वे कहते हैं कि, "महाकाव्यों की अपेक्षा रामकथा सम्बन्धी नाटकों में कथानक के दृष्टिकोण से अधिक परिवर्तन किया गया है तथा अनेक नए पात्रों की सृष्टि भी की गई है, जिससे *रामायण* की आधिकारिक कथावस्तु (वनवास, सीताहरण, रावणवध) को कम स्थान मिल सका है।" (वही, पृ. 199) इसके अतिरिक्त वे इसकी जिन अन्य विभेदक विशेषताओं की चर्चा करते हैं, वे हैं—कथानक पर आदर्शवाद, शृंगार और अद्‌भुत रस का बढ़ता हुआ प्रभाव और हास्यास्पद सीमा तक पात्रों द्वारा अन्य पात्रों का रूपधारण। (वही, पृ. 213)

फ़ा. बुल्के के संस्कृत राम-साहित्य के सर्वेक्षण से रामकथा की बढ़ती हुई लोकप्रियता और प्रभाव पर प्रकाश पड़ता है। *रामकथा और तुलसीदास* नामक पुस्तक में वह इस लोकप्रियता और प्रभाव की कारण-मीमांसा भी करते हैं। उनके अनुसार, इस बात के दो मुख्य कारण हैं—मानव मात्र का हृदय स्पर्श करनेवाली अपूर्व मार्मिकता तथा सार्वभौम मानव मूल्यों का समावेश।

(ख) आधुनिक भारतीय भाषाओं की रामकथा-परम्परा

भारतीय समाज में रामकथा की बढ़ती हुई लोकप्रियता और प्रभाव की निरन्तरता का एक साक्ष्य आधुनिक भारतीय भाषाओं का रामसाहित्य है। फ़ा. बुल्के ने यह स्पष्ट

करने के लिए इस साहित्य की सामग्री का जो भाषावार सर्वेक्षण किया है, उससे कई बातों पर एकत्र प्रकाश पड़ता है। पहली बात, वाल्मीकि और उनसे प्रेरित संस्कृत के धार्मिक और ललित राम-साहित्य का इन भाषाओं पर गहरा प्रभाव है, जो इनमें उपलब्ध रामकथा के घटकों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है। दूसरी बात, इस कथा के पात्रों और प्रसंगों से सम्बन्धित उस लोक सामग्री का समावेश है, जो किसी एक या अनेक क्षेत्रों से आई है। तीसरी बात, इस पूरे साहित्य पर भक्ति मत का प्रभाव है।

आधुनिक भारतीय भाषाओं में बारहवीं श. ई. की *तमिल रामायण* सबसे प्राचीन है। इसके रचयिता कम्बर हैं। इसके प्रथम छह कांड कम्बर (कम्बन) के हैं और सातवाँ (उत्तरकांड) ओट्टक्कूतन का। इसका मुख्य आधार *वाल्मीकि-रामायण* है, किन्तु इसमें कई वाल्मीकि-भिन्न वृत्तान्त भी हैं। फ़ा. बुल्के लिखते हैं, "उन्होंने अपने काव्य के प्रारम्भ में कहा कि मैं वाल्मीकि तथा अन्य दो कवियों के आधार पर लिख रहा हूँ। इन दोनों में से एक संस्कृत कवि कुमारदास प्रतीत होते हैं, क्योंकि अनेक, वाल्मीकि-रामायण से भिन्न वृत्तान्त *जानकीहरण* (8वीं श. ई.) तथा *तमिल रामायण* दोनों में मिलते हैं।" (*रामकथा*, पृ. 217) बुल्के यह भी बतलाते हैं कि इस पर वाल्मीकि के दाक्षिणात्य पाठ के कई प्रसंगों का प्रभाव पड़ा है।

कालक्रम के विचार से रंगनाथ कविकृत *द्विपद रामायण* (14वीं श. ई.) आधुनिक भारतीय राम-साहित्य का दूसरा प्राचीन लोकप्रिय काव्य है। यह तेलुगु रामायणों में सर्वप्रमुख और सर्वाधिक लोकप्रिय है। इसमें उत्तरकांड की कथावस्तु नहीं थी, जिसे बाद में काचविभुद तथा विट्ठलराजु ने *उत्तररामायण* लिखकर पूरा किया। यद्यपि प्रसिद्धि के विचार में *रंगनाथ-रामायण* और बाद की रचनाओं में *मोल्लरामायण* (16वीं श. ई.) का उल्लेख होता है, किन्तु *रंगनाथ-रामायण* से भी पहले तिकन्न कवि की *निर्वचोत्तर रामायण* (13वीं श. ई.) मिलती है। बाद के रामायण काव्यों की परम्परा भी पर्याप्त समृद्ध है, जिसके अन्तर्गत डॉ. बुल्के ने *भास्कर रामायण* (14वीं श. ई.) से लेकर अठारहवीं शताब्दी की कूचिमंच तिम्मकृत *अच्च तेलुगु* रामायण की कथानकगत विशेषताओं का उल्लेख किया है। किन्तु, जैसा कि स्वाभाविक है, उन्होंने सबसे विस्तार से *रंगनाथ-रामायण* के कथानक का विश्लेषण किया है। उन्होंने यह निर्देश किया है कि इसके कथानक का प्रधान आधार वाल्मीकि का दाक्षिणात्य पाठ है, किन्तु इसमें वाल्मीकि के उदीच्य, पश्चिमोत्तरीय और गौड़ीय पाठों की भी कुछ सामग्री उपलब्ध है। तेलुगु राम-काव्य की परवर्ती परम्परा भी बहुत समृद्ध है।

मलयाळम् के सबसे पुराने राम-काव्य चौदहवीं श. ई. के हैं। वे हैं—रामकवि का *इरामचरित* और अच्चि पिल्लै आशन का *रामकथापाट्टु*। इनकी विषय-वस्तु वाल्मीकि के युद्धकांड तक सीमित है। मलयाळम् की अन्य रामायणों में कण्णश्श पणिक्कर का *वाल्मीकि-रामायण* का अनुवाद (*कण्णश्श रामायण*), एषुतुच्चन-कृत *अध्यात्म रामायण*

(1575 ई.-1650 ई.) और केरल वर्मा-कृत *अध्यात्म रामायण* का अनुवाद विशेष प्रसिद्ध हैं। मलयाळम् राम-काव्य के सम्बन्ध में फ़ा. बुल्के कहते हैं, "यद्यपि मलयाळम् साहित्य की प्राचीनतम रचना रामचरित से सम्बन्ध रखती है, किन्तु मलयाली कवियों ने रामकथा के वर्णन में किसी मौलिकता का प्रदर्शन नहीं किया है।" (वही, पृ. 222)

कन्नड रामकथा साहित्य की दो परम्पराएँ हैं—जैन और वाल्मीकीय। इसकी जैन परम्परा पर यथास्थान विचार किया जाएगा। इसकी वाल्मीकीय परम्परा सोलहवीं शताब्दी की है, जिसकी प्रसिद्ध रचनाएँ *तोरवे रामायण, रावण कालग* और *जैमिनी भारत* हैं। इनमें प्रथम दो रचनाएँ तोरवे के नरहरि की हैं। लक्ष्मीशकृत *जैमिनी भारत* 'अत्यन्त लोकप्रिय है' (वही, पृ. 223), किन्तु भक्तिभाव और कवित्व की दृष्टि से तोरवे रामायण सबसे महत्त्वपूर्ण है। इस पर वाल्मीकि का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा है, किन्तु इस पर *आनन्द रामायण* और *रघुवंश* के भी कुछ प्रसंगों का समावेश हुआ है। किन्तु इसमें कुछ ऐसी सामग्री भी मिलती है, जो 'अन्यत्र नहीं मिली है।' (वही)

रामकथा के इतिहास का एक रोचक प्रकरण आदिवासी रामकथा है। फ़ा. बुल्के भारत की विभिन्न आदिवासी जातियों में प्रचलित इसके भेदों और प्रसंगों का संकलन कर इसकी जो रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं, वह स्वतन्त्र अनुसन्धान की अपेक्षा उत्पन्न करती है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि यह कथा आदिवासी जातियों में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रही है। फ़ा. बुल्के ने *रामकथा* के चतुर्थ भाग में इस कथा के बिरहोरी, मुंडा आदि अनेक रूप प्रस्तुत किए हैं।

द्रविड़ भाषाओं की रामकथा-परम्परा का इतिहास आधुनिक आर्य-भाषाओं की रामकथा-परम्परा से अधिक पुराना है, किन्तु आधुनिक आर्यभाषाओं में इस परम्परा की विशेषता यह है कि इनका राम-साहित्य तब लिखा गया, "जब राम-भक्ति के आविर्भाव और प्रचार के साथ-साथ रामकथा का विकास भी अन्तिम परिणति तक पहुँच चुका था।" (वही, पृ. 228) अभिप्राय यह कि इसमें रामकथा ने एक ऐसा रूप ग्रहण कर लिया था, जिसमें शायद ही कुछ नया नहीं जोड़ा जा सकता था, "अतः रामकथा के विकास के दृष्टिकोण से इस साहित्य का महत्त्व गौण है।" (वही)

फ़ा. बुल्के आधुनिक आर्य भाषाओं के राम-साहित्य में सबसे पहले सिंहली रामकथा की चर्चा करते हैं। सिंहल द्वीप या श्रीलंका की एक धार्मिक विधि 'कोहोम्बा यवकम' है। इसका प्रारम्भ 5वीं श. ई. में माना जाता है, किन्तु इसका पहला वर्णन पन्द्रहवीं शताब्दी ई. के सिंहली साहित्य में मिलता है। कोहोम्बा यवकम के अवसर पर जो कथाएँ कहीं जाती हैं, उनमें पहली प्रधान कथा प्रथम सिंहल राजा विजय और नाग कन्या कुवैणी की है और दूसरी कथा सीता-त्याग की। इसकी रामकथा में कई नवीनताएँ हैं; जैसे, राम का अकेले वनवास, उनकी अनुपस्थिति में सीता का हरण, हनुमान के स्थान में बालि का महत्त्व आदि।

फ़ा. बुल्के रामकथा-सम्बन्धी सामग्री की स्वल्पता के विचार से नेपाली और

कश्मीरी रामायणों का उल्लेख करते हैं। इनमें नेपाली की *भानुभट्ट रामायण* (1850 ई.) और कश्मीरी की दिवाकर प्रकाशभट्ट की *रामायण* (18वीं श.) आधुनिक काल की हैं। रामकथा के विकास के सन्दर्भ में कश्मीरी रामायण में 'बहुत-से परिवर्तन तथा परिवर्द्धन' मिलते हैं। इसमें कथानक-सम्बन्धी कुछ ऐसी विशेषताएँ भी हैं, जो अन्य रामायणों में नहीं मिलती हैं; जैसे, वनवास के समय राम की अहिल्या से भेंट या युद्ध के समय निराश रावण की कैलाश-यात्रा।

वस्तुतः काल की दृष्टि से विचार करने पर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में "प्राचीनतम राम-साहित्य असमिया, बंगाली तथा ओड़िया में सुरक्षित है।" (वही, पृ. 230) इन भाषाओं का राम-साहित्य वाल्मीकि के गौड़ीय पाठ पर आधारित है और इसमें "कुछ ऐसे वृतान्त भी विद्यमान हैं, जो प्रचलित वाल्मीकि रामायण में नहीं मिलते और अन्यत्र भी दुर्लभ हैं।" (वही, पृ. 231)

असमिया में *माधवकंदली-रामायण* सबसे प्रसिद्ध है। इसके अयोध्याकांड से लेकर युद्धकांड की रचना माधवकंदली ने की है, इसका उत्तरकांड महाकवि शंकरदेव ने लिखा है और इसके आदिकांड की रचना माधवदेव ने की है। माधवकंदली और शंकरदेव ने वाल्मीकि के गौड़ीय पाठ को आधार बनाया है, किन्तु माधवदेव ने बाङ्ला की कृत्तिवासी रामायण को। असम कृष्ण भक्ति क्षेत्र है, किन्तु असमिया में राम-साहित्य की परम्परा अबाधित रूप से चलती रही है।

कृतिवास ओझा की *रामपांचाली* (15वीं श. ई.), जिसका एक अन्य नाम *कृत्तिवासी रामायण* है, बाङ्ला का प्रथम और सबसे लोकप्रिय राम-काव्य है। इसके प्रामाणिक पाठ का निर्धारण कठिन है। इसके कथानक पर वाल्मीकि के गौड़ीय पाठ के अतिरिक्त *पद्मपुराण* के पातालखंड के गौड़ीय पाठ का भी प्रभाव पड़ा है। इसमें कुछ ऐसे वृत्तान्त हैं, जो बंगाल से बाहर कहीं नहीं मिलते। फ़ा. बुल्के इसकी दो अन्य विशेषताओं की भी चर्चा करते हैं, "रामभक्ति के प्रभाव के कारण...परम्परागत कथानक में बहुत परिवर्तन तथा परिवर्द्धन" तथा "शैव तथा शाक्त सम्प्रदायों की भी गहरी छाप"। (वही, पृ. 235)

कृत्तिवासी रामायण का बाङ्ला साहित्य पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा, किन्तु सत्रहवीं सदी तक बंगाल में राम-काव्य की कई नई परम्पराएँ विकसित हुईं। इनमें पहली परम्परा रामलीला के पदों की है। दूसरी परम्परा संस्कृत की *अद्भुत रामायण* के अनुवादों की है; जैसे, नित्यानन्द आचार्य और रामेश्वर दत्त की अद्भुत रामायण नामक रचनाएँ या चन्द्रावती की *रामगाथा*। *अद्भुत रामायण* में सीता दुर्गा का रूप धारण कर रावण के अग्रज सहस्रस्कन्ध रावण का वध करती हैं। तीसरी परम्परा *अध्यात्म रामायण* के काव्यानुवादों की है। अठारहवीं शताब्दी में रायबार नामक रचनाओं की एक नई परम्परा का विकास होता है; जैसे *अंगद रायबार* (फकीर रामकवि भूषण) या *विभीषण रायबार* (कवि रामचन्द्र)। बुल्के बाद के जिन राम-काव्यों

का विशेष रूप से उल्लेख करते हैं, वे हैं—उन्नीसवीं सदी के *राम रसायन* (रघुनन्दन गोस्वामी) और *रामायण* (जगतमोहन राम) और बीसवीं सदी का *मेघनाथ वध* (माइकल मधुसूदन दत्त)।

सम्बद्ध क्षेत्र होने के कारण उड़ीसा और बंगाल की सांस्कृतिक परम्पराओं में कई समानताएँ मिलती हैं। ये समानताएँ रामकथा के प्रसंग में भी उपलब्ध हैं। रामकथा के प्रथम कवि सारलादास (15वीं ई.) की ओड़िया रामायण आज उपलब्ध नहीं है, किन्तु उनके महाभारत में बीच-बीच में रामकथा के प्रसंग आए हैं। सिद्धेश्वर दास-कृत *विलंका रामायण* (लगभग 1700 ई.) का प्रधान विषय "सीता द्वारा (पूर्व-खंड में) सहस्रस्कन्ध रावण और (उत्तरखंड में) लक्ष स्कन्ध रावण" का वध है। (वही, 239) इन कवियों के परवर्ती बलराम दास-कृत *जगमोहन रामायण* ओड़िया का सबसे प्रसिद्ध और महान् राम-काव्य है। बलरामदास ने *जगमोहन रामायण* के अतिरिक्त अन्य आठ राम-काव्यों की रचना की है। सोलहवीं सदी के राम-काव्य *ठिका रामायण* (नीलाम्बर दास) और *रामविभा* (अर्जुन दास) हैं और सत्रहवीं सदी के *रघुनाथ विलास* (धनंजय), *बारमासी कोइलि* (शंकरदास), *टीका रामायण* (महेश्वर दास), *रामरसामृत सिन्धु* (कान्हुदास) और *अध्यात्म रामायण* (हलधर दास)। बुल्के उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के राम-साहित्य के अन्तर्गत *सीतेश विलास* (भुवनेश्वर कविचन्द्र), *रामायण* (कृष्णचरण पट्टनायक), *नृत्य रामायण* (केशव पट्टनायक), *पूर्ण रामायण* (केशव त्रिपाठी), *हलिया रामायण* और तीन रामलीला नाटकों का उल्लेख करते हैं।

डॉ. बुल्के द्वारा निर्दिष्ट *सारला महाभारत* और *जगमोहन रामायण* की विशेषताएँ उड़िया रामकथा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं; जैसे, *सारला महाभारत* में रामकथा और कृष्णकथा की अभिन्नता का निरूपण और *जगमोहन रामायण* में शिव-पार्वती संवाद के रूप में रामकथा का प्रस्तुतीकरण, दशरथ को शनि का वरदान, नारद मोह और मायासीता आदि का समावेश।

डॉ. बुल्के ने जिन अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं के राम-साहित्य पर विचार किया है, वे हैं—हिन्दी, मराठी, गुजराती और उर्दू-फ़ारसी।

वे हिन्दी में तुलसी-पूर्व राम-साहित्य के अन्तर्गत *भाषा वाल्मीकि रामायण*, रामानन्द के भक्ति पदों, *सूरसागर* की रामकथा और चन्दबरदाईकृत *पृथ्वीराज रासो* के दशावतार चरित की रामकथा और ईश्वरदास के *भरत मिलाप*, *राम जन्म* और *अंगदपैज* का उल्लेख करते हैं। किन्तु इनमें से एक भी रचना ऐसी नहीं है, जो लोकप्रियता और महत्त्व में *रामचरितमानस* के बराबर हो। स्वयं तुलसी की अन्य सभी रचनाएँ राम के चरित और भक्ति से सम्बन्ध रखती हैं, "लेकिन इनमें से *रामचरितमानस* सबसे अधिक लोकप्रिय प्रमाणित हुई है। इसी एक रचना के द्वारा हिन्दी प्रदेश में राम-भक्ति की धारा फैल गई और आज तक प्रवाहित होती रही। अतः रामभक्ति के विकास में *रामचरितमानस* का महत्त्व अद्वितीय है।" (वही, पृ. 243) इसके कथानक

पर वाल्मीकि से भी अधिक प्रभाव *अध्यात्म रामायण* का पड़ा है तथा रामकथा के अन्य ग्रन्थों का भी, किन्तु इसकी अद्वितीयता का रहस्य, नैतिकता और कवित्व का वह संश्लेष है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। डॉ. बुल्के ने महाकवि की अन्य रचनाओं के विश्लेषण के आधार पर यह कहा है, कि "प्रारम्भ में तुलसीदास *वाल्मीकि-रामायण* से अधिक प्रभावित थे और अपनी बाद की रचनाओं में अन्य रामकथा साहित्य से भी।" (वही)

तुलसी के समकालीन अग्रदास के *अष्टयाम* में राम की रासलीलाओं का चित्रण हुआ है और उनके शिष्य नाभादास के *अष्टयाम* में राम और सीता का शृंगारिक चरित आया है। ये रचनाएँ राम की मधुरोपासना का विस्तृत विवरण देनेवाली सबसे पहली पुस्तकें हैं। इनके बाद के अन्य उल्लेख्य हिन्दी राम-काव्य हैं–*रामचन्द्रिका* (केशवदास), *आदिरामायण* (सोढ़ी मेहरबान), *हनुमन्नाटक* (हृदयराम), *अवधविलास* (लालदास) आदि। दसवें सिख गुरुगोविन्द सिंह का राम-काव्य *गोविन्द रामायण* भक्तिकाल की प्रसिद्ध रचनाओं में है। डॉ. बुल्के रीतिकाल के विस्तृत राम-साहित्य का उल्लेख करते हुए उसकी जो विशेषताएँ बतलाते हैं, उनमें सबसे मुख्य है, "शृंगार की व्यापकता तथा कृष्ण-काव्य की गहरी छाप।" (पृ. 248)

आधुनिक काल में गद्य, नाटक और कविता–प्रत्येक विधा में राम-साहित्य लिखा गया है, किन्तु इसका सर्वोत्तम भाग राम-काव्य है। बुल्के आधुनिक हिन्दी राम-काव्य की प्रसिद्ध रचनाओं की तीन विशेषताओं को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। वे हैं–अवतारवाद के स्थान पर राम के मानवत्व का महत्त्व, धार्मिक भावना और रीतिकालीन शृंगारिकता के स्थान पर "नवीन सामाजिक तथा राजनीतिक आदर्श" का समावेश और रामकथा के "उपेक्षित अथवा कम विकसित पात्रों को नायक-नायिका बनाने की प्रवृत्ति।" (वही, पृ. 249)

एकनाथकृत *भावार्थ रामायण* (सोलहवीं श.ई.) मराठी साहित्य का सबसे प्राचीन और लोकप्रिय राम-काव्य है। इसका अहि-महिरावण वृत्तान्त परवर्ती कवि जयरामसुत की रचना है। *भावार्थ रामायण* पर विचार करते हुए फ़ा. बुल्के यह कहते हैं, *भावार्थ रामायण* के कथानक को वाल्मीकि के ढाँचे में प्रस्तुत किया गया है; समस्त रचना में भक्ति का जो वातावरण है, उसका आधार *अध्यात्म रामायण* है तथा उसकी वाल्मीकि से भिन्न नवीन सामग्री मुख्यतया *आनन्द रामायण* पर आधारित है।" (वही, पृ. 250) वह इस ग्रन्थ की विषयवस्तु का ब्यौरेवार विश्लेषण करते हुए इसकी उद्भावनाशीलता और उपर्युक्त त्रयी से भिन्न स्रोतों पर भी विचार करते हैं।

मराठी में सोलहवीं से अठारहवीं सदी तक *सीता-स्वयंवर* नामक रचनाओं की एक बड़ी संख्या मिलती है। इनके कवि हैं–सोलहवीं सदी के जनी जनार्दन और विठा रघुनन्दन, सत्रहवीं सदी के रामदास और बेणाबाई तथा अठारहवीं सदी के आनन्दतनय और नागेश। मराठी में, सत्रहवीं सदी में, कई अन्य रचनाएँ भी मिलती हैं; जैसे,

कृष्णदास मुद्गल का *युद्धकांड*, मुक्तेश्वर की *संक्षिप्त रामायण* या समर्थ रामदास की *लघु रामायण*, *सुन्दरकांड* और *युद्धकांड* एवं अन्य कवियों के राम-काव्य।

परवर्ती राम-साहित्य की *भावार्थ रामायण* से प्रभावित *राम-विजय* (श्रीधर, 1703 ई.) अत्यन्त लोकप्रिय रचना है। मोरोपन्त की रामायणों की संख्या 74 है। उन्नीसवीं शताब्दी का एक उल्लेखनीय राम-काव्य शतमुख *रावण-वध* (अमृतराव ओक) है।

गुजराती साहित्य कृष्ण-भक्ति प्रधान है, "फिर भी गुजराती साहित्यकारों की सूची से पता चलता है कि सन् 1370 ई. से 1852 ई. तक 372 कवियों में से पचास कवियों ने रामकथा-विषयक साहित्य की सृष्टि की है।" (*रामकथा*, पृ. 253) किन्तु गुजराती राम-काव्य पर इसके कृष्ण-काव्य का एक विशेष प्रभाव पड़ा है—वह यह कि इसकी रचना 'पदावली के रूप में अथवा आख्यान शैली' में हुई है; जैसे, *रामलीला नो पदो* (असाईत, चौदहवीं श.), *राम-विवाह* (भालण, पन्द्रहवीं श.), *रावण-मन्दोदरी-संवाद* (लावण्य समय, सोलहवीं श.) और *सीता-विरह* (हरिदास-कृत रामायण) है। गुजरात में रामकथा के प्रचलित रूप की प्रतिनिधि रचना *रामायणनो सार*, (नर्मद, उन्नीसवीं श.) है।

आधुनिक राम-काव्य की एक छोटी धारा उर्दू-फ़ारसी राम-साहित्य है, जिसके उल्लेख के बिना भारतीय राम-साहित्य की कोई भी सूची पूरी नहीं मानी जा सकती। फ़ा. बुल्के के अनुसार, उर्दू में चार राम-काव्य मिलते हैं—*रामायण खुश्तर* (मुंशी जगन्नाथ खुश्तर), *रामायण मंजूम* (मुंशी शंकर दयाल फर्हत), *रामायण बहार* (बाँके बिहारी लाल) और *रामायण मेह* (सूरज नारायण मेह)। इन रामायणों की रचना 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुई है। इनमें *रामायण खुश्तर* सर्वश्रेष्ठ है। उर्दू रामायणों की तुलना में फ़ारसी राम साहित्य का विस्तार कहीं अधिक है। इस साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग *वाल्मीकि-रामायण* के अनुवादों का है। वाल्मीकि का पहला फ़ारसी पद्यानुवाद अल बदायूनी का है, जो अकबर के आदेश से तैयार किया गया था। जहाँगीर के समय गिरिधर दास ने वाल्मीकि का संक्षिप्त फ़ारसी पद्यानुवाद प्रस्तुत किया। अन्य अनुवाद हैं—*रामायण फैज़ी*, *तर्जुमा-इ-रामायण* (गोपाल, सत्रहवीं सदी ई.), संक्षिप्त *फ़ारसी गद्यानुवाद* (चन्द्रभान बेदिल, 1685 ई.), *रामायण अमर प्रकाश* (अमर सिंह, 1705 ई.) और लाला अमानत राय का पद्यानुवाद (1754 ई.)। इनके अतिरिक्त, उन्नीसवीं सदी में भी कई फ़ारसी रामायणों की रचना हुई है। किन्तु फ़ारसी रामायणों के बीच एक विशेष पहचान बनानेवाली कृति जहाँगीर-कालीन कवि मुल्ला मसीह का रामायण *मसीही* है, जो सबसे प्राचीन ईसाई रामायण है। इसमें दशरथ यज्ञ से लेकर सीता के भूमि प्रवेश तक की कथा पाँच हज़ार छन्दों में कही गई है। इसमें कथानक-सम्बन्धी कुछ नवीनताएँ भी मिलती हैं।

(2) रामकथा की बौद्ध परम्परा

फ़ा. बुल्के ने *रामकथा* (चौथे और छठे अध्याय) में बौद्ध रामकथा के स्रोतों और स्वरूप पर विचार करने के अतिरिक्त *वाल्मीकि-रामायण* पर बौद्ध धर्म के सम्भावित प्रभाव की भी चर्चा की है। रामकथा के स्रोतों पर विचार करते समय *दशरथ-जातक* का उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ समस्त विषय की अपेक्षाकृत पूर्णतर रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

भारतीय बौद्ध परम्परा में रामकथा-सम्बन्धी दो प्रकार की सामग्री मिलती है। एक प्रकार की सामग्री स्फुट (फुटकर) है और दूसरे प्रकार की, पूर्ण। स्फुट सामग्री के अन्तर्गत फ़ा. बुल्के पहले *जयद्दिस जातक* और *वेस्संतर जातक* का उल्लेख करते हैं, जिनमें रामकथा से सीधा सम्बन्ध रखनेवाली गाथाएँ आई हैं। इनके बाद वह इस कथा से सम्बन्धित गौण वृत्तान्तों की सामग्री वाले *साम जातक, सम्बुला जातक* और *महासुत जातक* का भी निर्देश करते हैं, जहाँ दृष्टान्तों के रूप में इसका उपयोग हुआ है। दूसरे प्रकार की सामग्री *दशरथ-जातक, अनामकं जातकम्* और *दशरथकथानम्* की है, जिनमें यह कथा सुसम्बद्ध रूप में कुछ विस्तार से आई है। *दशरथ जातक* पालि *जातकट्ठ-वण्णना* में मिलता है, जो "पाँचवीं शताब्दी ई. की एक सिंहली पुस्तक का पाली अनुवाद है। इस सिंहली पुस्तक में जो कथाएँ पाई जाती है, वे प्राचीन पालि गाथाओं की टीका के रूप में लिखी गई हैं।" (*रामकथा*, पृ. 56) इन दिनों यह सिंहली पुस्तक कहीं नहीं मिलती। स्पष्ट है कि जिस *दशरथ-जातक* को कुछ विद्वानों ने *वाल्मीकि-रामायण* का आधार प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है, वह ईसवी सन् के बाद की रचना है। तीसरी शताब्दी ई. में कांग-सेंग-हुई द्वारा चीनी भाषा में अनूदित *अनामकं जातकम्* और 472 ई. के चीनी त्रिपिटक के त्सापौ-त्सांग-किंग नामक अवदान-संग्रह में *दशरथकथानम्* नामक अवदान में भी रामकथा आई है।

दशरथ-जातक में दशरथ की राजधानी अयोध्या न होकर वाराणसी है, उनकी रानियों की संख्या तीन न होकर दो है, रानियों के नाम नहीं आए हैं, पहली रानी की सन्तानें राम-पंडित के साथ-साथ लक्खण (लक्ष्मण) और सीता भी हैं; पहली पत्नी की मृत्यु के बाद परिणीता पत्नी की सन्तान भरत कुमार हैं; भाइयों में शत्रुघ्न का उल्लेख नहीं है; वनवास की अवधि चौदह वर्ष न होकर बारह वर्ष है; वनवास का स्थान हिमालय है और दशरथ की मृत्यु का समय वनवास के नौ वर्ष बाद है। इस कथा के अन्य विवरण हैं—राम-पंडित का भरत द्वारा प्रदत्त शासनाधिकार से इनकार, भरत को तृणपादुका-प्रदान, तीन वर्ष बाद राम की वाराणसी वापसी और अपनी बहन सीता देवी से विवाह कर सोलह हज़ार वर्षों तक शासन करने के बाद स्वर्गारोहण।

फ़ा. बुल्के ने 'दशरथ-जातक की समस्या' (*रामकथा*, पृ. 78-101) के अन्तर्गत इसकी अन्तरंग परीक्षा की है और यह सिद्ध किया है कि यह वाल्मीकि-परवर्ती और उनकी रामकथा का विकृत रूप है।

अनामकं जातकम् में बोधिसत्त्व के एक पिछले जन्म के रूप में रामकथा आई हैं, इसमें पात्रों के नाम नहीं हैं। इसके प्रमुख विवरण इस प्रकार हैं—बोधिसत्त्व (राजा) का राज्य छीनने के लिए उनके मामा द्वारा सैनिक तैयारी; रक्तपात टालने के लिए राजा का, मन्त्रियों को राज्यभार देकर, रानी के साथ वनगमन; वन में राजा की अनुपस्थिति में नाग द्वारा ऋषि के वेश में रानी का अपहरण और पहाड़ी पर रहनेवाले एक विशाल पक्षी द्वारा रुकावट डालने पर उसे घायल कर रानी को समुद्र-स्थित अपने द्वीप में ले जाना; रानी की खोज में राजा की एक बड़े वानर से भेंट, जिसका राज्य उसके चाचा ने अपहृत कर लिया था; दोनों की मैत्री, चाचा से वानर का युद्ध और बोधिसत्त्व को धनुष सन्धान करते देखकर चाचा का पलायन; वानर द्वारा रानी की खोज में अपने साथियों का प्रेषण, आहत पक्षी से उनकी भेंट और नाग द्वारा रानी के अपहरण की जानकारी; छोटे वानर का रूप धारण करनेवाले इन्द्र के परामर्श से वानरों द्वारा पत्थर के टुकड़ों से मार्ग-रचना और नागद्वीप में उनका प्रवेश; राजा द्वारा मायावी नाग का वध, रानी की प्राप्ति और मामा की मृत्यु का समाचार सुनकर स्वदेश वापसी।

इस कथा में रानी के सतीत्व की परीक्षा का भी उल्लेख हुआ है।

दशरथकथानम् की रामकथा में जम्बूद्वीप के राजा दशरथ की चार रानियों का उल्लेख है। इसके अनुसार, राम प्रधान महिषी के पुत्र थे, और रामण (लक्ष्मण) दूसरी रानी के, भरत तीसरी रानी के और शत्रुघ्न चौथी रानी के पुत्र थे। इस कथा में दशरथ द्वारा तीसरी पत्नी को दिए गए वचन के अनुसार राम-रामण को बारह वर्षों का वनवास देने का उल्लेख है। इसमें भी भरत जब विदेश से लौटते हैं, तो राजपद अस्वीकार करते हैं, सेना के साथ राम को मनाने वन जाते हैं और राम पिता की आज्ञा का उल्लंघन कर राजधानी लौटने से इनकार करते हैं। भरत उनकी चरण पादुकाएँ लेकर अयोध्या आते हैं। वनवास का समय पूरा होने पर राम स्वदेश लौटते और भरत के आग्रह पर राज्यभार स्वीकार करते हैं। "अब लोग अपने-अपने धर्म का पालन करने लगे। सर्वत्र शान्ति और समृद्धि का राज्य था।" (*रामकथा*, पृ. 61)

इस कथा में सीता का कहीं उल्लेख नहीं है, अतः उनके अपहरण और राम-रावण युद्ध-जैसी घटनाओं के वर्णन का प्रश्न ही नहीं है।

यहाँ यह उल्लेख आवश्यक नहीं कि राम बुद्ध के पूर्ववर्ती हैं और उनकी कथा कहने वाला आदिकाव्य बुद्ध-परवर्ती। आदिकाव्य की रचना बौद्ध धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव के युग में हुई थी, अतः वाल्मीकि पर इसका परोक्ष रूप से प्रभाव पड़ना असम्भव नहीं है, "राम का अत्यन्त शान्त और कोमल स्वभाव, उनकी सौम्यता आदि ध्यान में रखकर स्वीकार करना पड़ता है कि वे मुनि पहले हैं, क्षत्रिय बाद में। अतः उनके चरित्र-चित्रण में किंचित् परोक्ष बौद्ध प्रभाव देखना निर्मूल कल्पना नहीं प्रतीत होती है।" (वही, पृ. 101)

भारतीय बौद्ध परम्परा में रामकथा को वैसी लोकप्रियता नहीं मिली, जैसी जैन

परम्परा में। इसलिए बाद की बौद्ध रचनाओं में इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। *लंकावतार-सूत्र* में रावण और बुद्ध का धर्म-सम्बन्धी संवाद आया है, किन्तु इसमें रामकथा का कहीं निर्देश नहीं है और अश्वघोष के *बुद्धचरित* में इसके उल्लेख भर मिलते हैं।

(3) रामकथा की जैन परम्परा

रामकथा को बौद्ध और जैन, दोनों धर्मों में स्थान मिला है। बौद्धों ने राम को बोधिसत्त्व और जैनियों ने आठवाँ बलदेव माना है। किन्तु बौद्ध राम-साहित्य की तुलना में जैन राम-साहित्य कहीं अधिक विस्तृत है। इसका कारण जैनियों द्वारा इस कथा के समस्त विस्तार को अपनी इतिहास-दृष्टि का अंग बना देना है। उनकी इतिहास-दृष्टि के अनुसार, "प्रत्येक कल्प के त्रिषष्टि महापुरुषों में से नौ बलदेव, नौ वासुदेव और नौ प्रतिवासुदेव होते हैं। ये तीनों समकालीन होते हैं।" (*रामकथा*, पृ. 63)

जैनी यह मानते हैं कि बलदेव और वासुदेव एक ही राजा की अलग-अलग रानियों के पुत्र होते हैं। वासुदेव अपने अग्रज बलदेव के साथ प्रतिवासुदेव से युद्ध करते हैं। इसमें वासुदेव प्रतिवासुदेव का वध करते हैं, जिसका पाप उन्हें लगता है। बाद में वह अपने विजय-अभियान में भारत के तीन खंड जीतकर अर्द्धचक्रवर्ती बन जाते हैं। मृत्यु के बाद, प्रतिवासुदेव के वध के कारण, उन्हें नरक मिलता है। अपने अग्रज की मृत्यु से दुःखी होकर बलदेव जैन दीक्षा लेते और अन्त में मोक्ष प्राप्त करते हैं।

कथा की उपर्युक्त योजना के अनुसार रावण का वध राम के द्वारा न होकर लक्ष्मण के द्वारा होता है और रावण–जैसे परम-धार्मिक का पुण्य न होकर पाप बन जाता है।

जैनियों के श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों के भेद की तरह उनकी रामकथाओं का स्वरूप भी भिन्न है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय की रामकथा परम्परा विमलसूरि की परम्परा की है और दिगम्बर रामकथा की परम्परा, गुणभद्र के *उत्तर-पुराण* की। यद्यपि विमलसूरि दोनों के मान्य कवि हैं, किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय उनके राम-काव्य *पउमचरियं* (पद्मचरित) के बराबर ही गुणभद्र के *उत्तर-पुराण* को महत्त्व देता है, जिसकी कथा *पउमचरियं* की कथा से बहुत भिन्न है।

(क) विमलसूरि की रामकथा

शुद्ध जैन महाराष्ट्री में लिखित *पउमचरियं* का रचनाकाल 72 ई. माना जाता है, किन्तु याकोबी आदि विद्वान् इसे तीसरी या चौथी श. ई. की रचना मानते हैं। रविषेणाचार्य ने 660 ई. में इसका *पद्मचरित* के नाम से संस्कृत में अनुवाद किया है। प्राकृत,

संस्कृत, अपभ्रंश और कन्नड में विमलसूरि के इस काव्य के आधार पर रामकथा की एक पूरी परम्परा का विकास हुआ है।

यह उल्लेख आवश्यक है कि विमलसूरि ने वाल्मीकीय कथा का अनुसरण किया है, जबकि रविषेण ने उनके काव्य के संस्कृत अनुवाद में विभिन्न कथा-प्रसंगों को बहुत बदल दिया है।

(ख) गुणभद्र की रामकथा

जिनसेन के शिष्य और कर्नाटक-निवासी गुणभद्र का *उत्तर-पुराण* 1117 श्लोकों का काव्य है। इसकी कथा विमलसूरि और वाल्मीकि, दोनों से बहुत भिन्न हो गई है, "इसकी मुख्य विशेषता यह है कि इसमें सीता को रावण तथा मन्दोदरी की औरस पुत्री माना गया है।" (*रामकथा,* पृ. 75) फ़ा. बुल्के ने इस परम्परा के राम-काव्यों की जो सूची दी है, वह है—संस्कृत में गुणभद्र के *उत्तर-पुराण* के अतिरिक्त *पुण्यचन्द्रोदय* (कृष्णदास, 16वीं श. ई.); प्राकृत में *महापुराण* (पुष्पदन्त, 10वीं श. ई.) तथा कन्नड में *त्रिषष्टिशलाकापुरुषपुराण* (चामुण्डराय, 10वीं श. ई.), *जीवन सम्बोधन* (बन्धु वर्मा, 1200 श. ई.) और *पुण्याश्रवककथासार* (नागराज, 1331 ई.)।

जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों के राम-साहित्य की सूचियाँ यह बतलाती हैं कि उनके बीच यह कथा कितनी अधिक लोकप्रिय हो गई थी; लेकिन इनके राम-काव्यों में वाल्मीकि का कथानक इतना अधिक बदल गया है कि उसकी पहचान कठिन हो गई है।

फ़ा. बुल्के जैन रामकथा की ऐसी तीन विशेषताओं का उल्लेख करते हैं, जो वाल्मीकीय रामकथा से इसे एकदम अलग कर देती हैं। उनके अनुसार, इसकी पहली विशेषता पूरी कथा का जैन इतिहास-चक्र के अनुरूप विधान है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। इसकी दूसरी विशेषता वानर और राक्षस का विद्याधर वंश की शाखाओं के रूप में चित्रण है। उन्हें ऋषभदेव के पुत्र नमि और विनमि का वंशज माना गया है। जैन परम्परा का राक्षस अधार्मिक और हिंसक नहीं है। उसका राक्षसराज रावण धर्मभीरु जैनी है, जो पशुबलि का विधान करनेवाले यज्ञों पर रोक लगाता है। जैन रामकथा की तीसरी विशेषता वाल्मीकि की कथा की बहुत-सी घटनाओं और प्रसंगों में आमूल परिवर्तन है। इसका कारण यह है कि जैन कवि बार-बार वाल्मीकि की कथा को असत्य कथा कहते हैं।

यह सही है कि जैनियों द्वारा रामकथा के अपने अनुरूप विधान के कारण उसमें नितान्त नई सामग्री का समावेश हुआ है; किन्तु यह भी उल्लेख्य है कि उनकी रामकथा के बहुत-से प्रसंगों का भारतीय और विदेशी राम-साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। उदाहरणार्थ, सीता के रावण-पुत्री होने का वृत्तान्त *देवी-भागवत्,* कश्मीरी

रामायण, तिब्बती और *खोतानी रामायण*, *रामकीर्ति* (स्याम), *सेरतकांड* (जावा) आदि अनेक रचनाओं में समान रूप से पाया जाता है।

(4) रामकथा की विदेशी परम्पराएँ

फ़ादर कामिल बुल्के ने रामकथा की विदेशी परम्पराओं पर *रामकथा* (विदेश में रामकथा, पृ. 256-279) के अतिरिक्त अपने कई शोध निबन्धों में भी विचार किया है। वे निबन्ध हैं—*मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ* (1959 ई.) के 'रामकेर्तिः ख्मेर भाषा का रामायण' और 'हिन्देशिया में रामायण', 'रामकथा की दिग्विजय' (*इन्दिरा अभिनन्दन ग्रन्थ*, 1975 ई.); 'रामकथा के सन्दर्भ में भारत और दक्षिण पूर्व एशिया का तादात्म्य सम्बन्ध' (*मानस-चिन्तन*, 1978 ई.); 'एन इंडोनेशियन बर्थ स्टोरी ऑव हनुमान' (जर्नल ऑव ओरियण्टल इंस्टिट्यूट, 1959 ई.) तथा 'द रामायण ट्रेडिशन इन एशिया' (साहित्य अकादेमी, दिल्ली, 1980 ई.)। इन रचनाओं के आधार पर रामकथा की तिब्बती-खोतानी या उत्तर एशियाई, दक्षिण पूर्व एशियाई और पश्चिमी (या यूरोपीय)—तीन परम्पराओं का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें अन्तिम परम्परा रचनात्मक साहित्य की न होकर यूरोपीय यात्रियों और भारतविदों द्वारा प्रस्तुत रामकथा-सम्बन्धी संक्षिप्त या प्रासंगिक विवरणों की है। डॉ. बुल्के ने इसे 'पाश्चात्य वृत्तान्त' कहा है। इससे इस कथा की व्यापक लोकप्रियता और इसके कथाप्रसंगों की विविधता का पता चलता है और इसका महत्त्व साहित्यिक न होकर ऐतिहासिक है। इसके विपरीत रामकथा की तिब्बती-खोतानी या उत्तर एशियाई और दक्षिण एशियाई परम्पराओं का महत्त्व जितना ऐतिहासिक है, उससे कहीं अधिक साहित्यिक और सांस्कृतिक। इनके द्वारा भारत से बाहर के अनेकानेक कालजयी राम-काव्यों की जानकारी मिलती है और यह बात उजागर होती है कि किस तरह एशिया के अधिकांश क्षेत्रों में भारत में उत्पन्न बौद्ध, वैष्णव और शैव धर्मों का प्रसार हुआ था और भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत और पालि साहित्य वहाँ के जीवन के अंग बन गए थे। यही कारण है कि फ़ा. बुल्के *मानस-चिन्तन* में सम्मिलित अपने निबन्ध में इस प्रसंग को 'भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया का तादात्म्य सम्बन्ध' कहते हैं।

(क) रामकथा की तिब्बती-खोतानी परम्परा

इस परम्परा के विषय में फ़ा. बुल्के कहते हैं, "रामकथा की एक धारा उत्तर की ओर फैल गई, इसका प्रमाण तिब्बती तथा खोतानी रामायणों में मिलता है। यह सामग्री अपेक्षाकृत प्राचीन है।" (*रामकथा*, पृ. 256) उत्तर एशिया में इस कथा के प्रसार का सबसे पुराना साक्ष्य चीनी भाषा में मिलता है, जिसमें तीसरी श. ई. में *अनामकं जातकम्* का और पाँचवीं श. ई. में *दशरथ-कथानम्* का अनुवाद हो चुका था। स्वयं

तिब्बती भाषा में इस कथा की कई पुरानी पांडुलिपियाँ मिलती हैं, जो "सम्भवतः आठवीं या नवीं शताब्दी की हैं।" (पृ. वही)

तिब्बती रामायण की विशेषता यह है कि इसका प्रारम्भ एक संक्षिप्त रावण चरित से होता है। इसमें विष्णु दशरथ से यह प्रतिज्ञा करते हैं कि वे उनके पुत्र के रूप में जन्म लेंगे। इसमें रावण अपनी कन्या सीता को अनिष्ट के भय से समुद्र में फेंक देता है। इसकी अन्य विशेषताएँ हैं—दशरथ की कनिष्ठा पत्नी से विष्णु (रामन) का जन्म, ज्येष्ठा पत्नी से इसके तीन दिन बाद विष्णु के पुत्र लक्षण का जन्म, वनवास के समय कृषकों के अनुरोध पर राम का सीता (लीलावती) से विवाह और राम के राज्यारोहण के बाद राजधानी के समीप अशोक वन से सीता का अपहरण। इसके बाद की घटनाएँ वाल्मीकि के अनुसार हैं।

खोतानी या पूर्वी तुर्किस्तान की रामकथा (9वीं श. ई.) एक बड़ी सीमा तक तिब्बती रामायण से मिलती है। इसकी विशेषता बोधिसत्त्व द्वारा राम के रूप में अपने पूर्वजन्म की कथा का वर्णन है। इसमें राम-रावण युद्ध में आहत लक्ष्मण की चिकित्सा जीवक करते हैं और अन्त में युद्ध में आहत होकर गिरने के बाद रावण राम से कर चुकाने की प्रतिज्ञा करने पर जीवन-दान पाता है।

(ख) रामकथा की दक्षिण-पूर्व एशियाई परम्परा

दक्षिण-पूर्ण एशिया को बृहत्तर भारत कहा जाता है, क्योंकि यहाँ शताब्दियों पहले भारतीय संस्कृति का प्रसार हो गया था। इस क्षेत्र के अन्तर्गत बर्मा, थाइलैण्ड, लाओस, काम्बोदिया, वियतनाम (अन्नाम), मलेशिया और हिन्देशिया (इंडोनेशिया) आते हैं। इनकी भाषाओं की लिपियाँ भारतीय मूल की हैं और इनकी शब्दावली संस्कृत-प्रभावित। कभी इनमें बौद्ध धर्म के अतिरिक्त वैष्णव और शैव धर्मों का भी प्रचार था; किन्तु आज केवल बाली द्वीप और वियतनाम की चम जाति के लोगों के बीच हिन्दू (शैव और वैष्णव) धर्म जीवित रह गया है। "बारहवीं शताब्दी में सिंहल द्वीप के भिक्षु पालिहीनयान का प्रचार करने आए। काम्वोदिया, थाइलैंड, लाओस और बर्मा की अधिकांश जनता आजकल उसी धर्म पर चलती है।" (*मानस-चिन्तन*, पृ. 33)

हिन्देशिया में रामकथा की लोकप्रियता का सबसे प्राचीन प्रमाण वहाँ नवीं श. ई. के एक शिव मन्दिर के शैलचित्र हैं। इस सदी के बाद जावा और मलय में एक विस्तृत राम-साहित्य रचा गया है। जहाँ जावा की प्राचीन रामायण की कथा वाल्मीकि के निकट है, वहाँ उसकी परवर्ती रामकथा वाल्मीकि से भिन्न हो गई है। दोनों की, "सामान्य विशेषता यह हे कि इसमें राम-भक्ति का भाव नहीं आया है।" (*रामकथा*, पृ. 259)

हिन्देशिया का प्राचीनतम राम-काव्य *रामायण ककविन* (दसवीं श. ई.) है, जिस

पर *भट्टिकाव्य* का गहरा प्रभाव पड़ा है। इस पर *अभिषेक नाटक* और *महानाटक* का भी प्रभाव मिलता है।

हिन्देशिया में *रामायण ककविन* के अतिरिक्त दो अन्य प्राचीन रचनाएँ हैं—*उत्तरकांड* (वाल्मीकीय उत्तरकांड की कथा का गद्यात्मक वर्णन) और *चरित-काव्य* (*भट्टिकाव्य* के आदर्श पर रामकथा के प्रथम सर्गों की कथा के साथ व्याकरण का उदाहरण-संग्रह)। किन्तु पिछली कई शताब्दियों से वहाँ सबसे लोकप्रिय काव्य मलय भाषा का *हिकायत सेरी राम* (पन्द्रहवीं श. ई.) है। इसका हिन्देशिया की रामकथाओं के अतिरिक्त काम्बोदिया की ख्मेर भाषा के रामकाव्य *रामकेर्ति* और थाईलैंड के *रामकियेन* पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है।

हिकायत सेरी राम के कथानक में वाल्मीकि से भिन्नता है। इसका प्रारम्भिक अंश रावण-चरित है। इसमें दशरथ की दो पटरानियाँ हैं—मन्दूदारी और बलियादारी। इसमें सीता को रावण की पुत्री कहा गया है, जिसे वह अनिष्ट की आशंका से समुद्र में फिंकवाता है और जिसका पालन महीरसी कली द्वारा होता है। बुल्के *हिकायत सेरी राम* के कथानक के कई वाल्मीकि-भिन्न विवरणों का उल्लेख करते हैं।

पतानी रामकथा में महासिकु नामक तपस्वी के साथ दशरथ और बालि-सुग्रीव की कथाओं का विलक्षण रूप में सम्मिश्रण हो गया है। जैसे, इसमें महासिकु की चार सन्तानें हैं—एक पुत्री, बालि, सुग्रीव और बिलों। सेरावी (राम) उसके दत्तक पुत्र हैं और रावण द्वारा परित्यक्त सीता, दत्तक पुत्री।

जावा रामायण *सेरतकांड* की कथा बहुत-कुछ *हिकायत सेरी राम* का अनुसरण करती है।

रामकेर्ति ख्मेर भाषा की सबसे महान् कृति है। इसकी सबसे पुरानी, किन्तु अपूर्ण पाण्डुलिपियाँ सत्रहवीं श. ई. की हैं। फ़ा. बुल्के इसके कथानक के विश्लेषण के बाद यह प्रतिपादित करते हैं कि इसका "लेखक कोई धार्मिक बौद्ध है, जो राम को नारायण का अवतार मानते हुए भी, उनको बोधिसत्त्व की उपाधि देता है तथा कई स्थलों पर बौद्ध शब्दावली का प्रयोग करता है।" (वही, पृ. 269) उनके अनुसार, यह कृति *सेरी राम* से प्रभावित है। किन्तु इसमें *सेरी राम* और वाल्मीकि का समन्वय भी हुआ है। जैसे, *हिकायत सेरी राम* में दशरथ की पत्नियों की संख्या दो कही गई है, किन्तु *रामकेर्ति* में तीन और इसमें इन तीनों के नाम वाल्मीकि के अनुसार दिए गए हैं।

हिकायत सेरी राम का ही एक पाठ *हिकायत महाराज रावण* है, जिसमें रावण-वध के बाद राम के लंका-प्रवास, लंका में ही सीता के निर्वासन आदि की घटनाएँ मिलती हैं। ख्मेर राम-काव्य *रामकेर्ति* का उत्तरार्द्ध इसी काव्य पर आधारित है।

श्याम या थाइलैंड की रामकथा का नाम *रामकियेन* है, जिसका अर्थ है—रामकीर्ति।

थाइलैंड में *रामकियेन* के नाम से सत्रहवीं श. ई. से अनेक रामायणों की रचना हुई है। बैंकाक के संस्थापक राजा राम प्रथम ने 1797 ई. में इसी नाम से खोन शैली का एक नाटक लिखा है। "अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में कई कवियों ने *रामकियेन* नामक महाकाव्यों की रचना की है; उदाहरणार्थ, थोनबुरी, फुत्तायोत्फा (इसका *रामकियेन* सर्वाधिक विस्तृत है) और फुत्तालेउल्ला।" (वही : पृ. 270)

रामकियेन का मुख्य आधार *रामकीर्ति* है और बहुत-से प्रसंगों में *हिकायत सेरी राम*; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि, "*रामकियेन* पर *वाल्मीकि-रामायण* का सीधा प्रभाव परिलक्षित होता है।" (*मानस-चिन्तन*, पृ. 57)

लाओ भाषा का *राम-जातक* सोलहवीं श. ई. की रचना है। इसमें राम और रावण को चचेरा भाई कहा गया है और रावण द्वारा शान्ता से विवाह की घटना आई है। *तुआलाफी* (दुन्दुभि), *लंकानीय* और *पोम्मचक्का* (ब्रह्मचक्र) इस भाषा के अन्य राम-काव्य हैं। इनमें *पोम्मचक्का* जातक शैली की रचना है, "इसमें ब्रह्मचक्र अर्थात् रावण, राम और सीता की जन्मकथाओं का वर्णन है।" (*रामकथा*, पृ. 275) यद्यपि इसकी रामकथा अन्य रामायणों की कथा का अनुसरण करती है, किन्तु उसमें कुछ भिन्नता भी है; जैसे, रावण की वाटिका के वृक्ष से सीता का जन्म, शूर्पणखा द्वारा कनक मृग का रूपधारण आदि।

दक्षिण-पूर्व एशिया का कोई भी उल्लेख बर्मा के बिना पूर्ण नहीं होता। बर्मा के कवि यू तो ने 1800 ई. के आसपास *रामयागन* नामक रामायण की रचना की। यह बर्मी भाषा का सबसे महत्त्वपूर्ण काव्य है। "आजकल रामनाटक, जिसे वहाँ की भाषा में 'यामप्वे' कहते हैं, बहुत लोकप्रिय हैं।" (वही, पृ. 276)

दक्षिण-पूर्व एशिया का नाट्य-साहित्य बड़ा समृद्ध और विस्तृत है। इस साहित्य के प्रमुख स्रोत *रामायण* और *महाभारत* हैं। "इंडोनेशिया के नाटकों में *रामायण* की अपेक्षा *महाभारत* का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु थाइलैंड के नाट्य-साहित्य में *महाभारत* विषयक सामग्री नगण्य है।" (*मानस-चिन्तन*, पृ. 61)

जावा और बाली में दो प्रकार के नाटक खेले जाते हैं। वे हैं—*छाया नाटक* (वायांग कुलित) और वायांग ओरांग (जावा) या वायांग वोंग (बाली)। इसी प्रकार, थाइलैंड में दो प्रकार के राम-नाटक लोकप्रिय हैं—लाकोन नाइ (नृत्य-नाटक) और खोन (मूकाभिनय नाटक)।

दक्षिण-पूर्व एशिया की रामकथा के विषय में फ़ा. बुल्के का प्रमुख निष्कर्ष यह है कि यह वहाँ की 'सांस्कृतिक परम्परा का अभिन्न अंग' है और बहुत-से प्रसंगों में वाल्मीकि से भिन्नता के बावजूद इसमें "वाल्मीकि के रामायण का आदर्शवादी स्वर कभी लुप्त नहीं हुआ।" (वही, 63) इस सम्बन्ध में वह एक रोचक प्रसंग का उल्लेख करते हैं :

> "पच्चीस वर्ष पहले मेरे एक मित्र ने जावा के किसी गाँव में एक मुसलिम शिक्षक को रामकथा पढ़ते देखकर पूछा था कि आप *रामायण* क्यों पढ़ते हैं। उत्तर मिला, "मैं और अच्छा मनुष्य बनने के लिए *रामायण* पढ़ता हूँ।" (वही)

(ग) रामकथा की पाश्चात्य परम्परा

रामकथा के अध्याय 13 (विदेश में रामकथा) के 'पाश्चात्य वृत्तान्त' (पृ. 276-279) के अन्तर्गत विभिन्न यूरोपीय भाषाओं में उपलब्ध रामकथा का उल्लेख किया गया है। जैसा कि पहले ही निवेदन किया जा चुका है, यूरोपीय भाषाओं में रामकथा की कोई रचनात्मक परम्परा नहीं मिलती; किन्तु उनमें इसकी जो भी सामग्री मिलती है, वह गौण होते हुए भी उपेक्षणीय नहीं है। फ़ादर बुल्के कहते हैं :

> "पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर पाश्चात्य यात्रियों तथा मिशनरियों की भारत-सम्बन्धी रचनाओं में रामकथा के विषय में बहुत कुछ सामग्री मिलती है। अर्वाचीनता तथा लेखकों की अपेक्षाकृत कम जानकारी के कारण यह साहित्य महत्त्वपूर्ण नहीं है, फिर भी उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।" (पृ. 276)

वस्तुतः मुख्य रूप से दक्षिणी भारतीय और गौण रूप से कुछ अन्य भारतीय क्षेत्रों की लोक परम्पराओं में उपलब्ध जो सामग्री उनमें संकलित है, वह अपने समय की रामकथा का प्रतिनिधित्व करती है और उसके आधार पर यह समझा जा सकता है कि भारत के एक बड़े भू-भाग में इसका प्रचलित स्वरूप क्या था।

फ़ा. बुल्के ने इस प्रसंग के अन्तर्गत बीस पुस्तकों का उल्लेख किया है, जिनका रचनाकाल 17वीं श. ई. से 19वीं श. ई. है। इनमें पन्द्रह पुस्तकों में रामकथा का कुछ विस्तृत उल्लेख हुआ है और पाँच में उसके कुछ प्रसंगों का निर्देश भर है।

इनमें सत्रहवीं सदी की पुस्तकें हैं—*लिब्रो डा साटा* (जे. फ़ेनिचियो, 1609 ई.), *द ओपन दोरे* (ए. रोजेरियुस, 1651 ई.), *आफ़गोडेरेय डर ओस्ट इण्डिशे हाइडेनन* (पी. बलयेयुस, 1658 ई.), *आसिया* (डॉ. ओ. डेप्पर, सत्रहवीं सदी उत्तरार्द्ध), *आसिया पोर्तुगेसा* (डे फरिया, 1679 ई.), *फ्रेंच रामकथा* (रलासियो डेस एरयर, 1644 ई.), *ट्रैवेल्स इन इण्डिया* (जे. बी. ट्रावर्नियें, सत्रहवीं श. ई.) और तीन पुर्तगाली वृत्तान्त (डॉ. कालेड, 1670 ई.)। बुल्के इन वृत्तान्तों में से दो को, जो क्रमशः 1774 ई. और 1723 ई. में प्रकाशित हैं, अठारहवीं सदी की रामकथा के प्रतिनिधि रूप मानते हैं। वह एन. मानुच्ची की *स्टोरिया डी मोगोर* (1653-1708 ई.) को दो सदियों की रामकथा की प्रतिनिधि मानते हैं।

अठारहवीं सदी की अन्य पुस्तकें हैं—*वोयाज़ ओस इण्ड ओरियंटाल* (एम. सोनेरा) और *मिथोलोजी डेस इण्डू* (डी. पोलिए) । इसी प्रकार, पहली सदी की *हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स ऐंड सेरेमोनिस* (जे.ए. दुब्बा) में भी यह कथा आई है।

रामकथा की पाश्चात्य परम्परा का आधार *वाल्मीकि रामायण* है, किन्तु इसमें कुछ वाल्मीकि-भिन्न उल्लेख भी मिलते हैं; जैसे, रावण के चित्र के कारण सीता का परित्याग (डे फ़रिया), सीता-त्याग का कारण धोबी (रलासियों डेर एरडर), रक्तजा सीता (डे पोलियो), हनुमान का समुद्र की धारा पर चलकर समुद्र का सन्तरण (दुब्बा) इत्यादि।

रामकथा का विकासमूलक स्वरूप

फ़ादर कामिल बुल्के के रामकथा-सम्बन्धी कृतित्व का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग इसके विकासशील स्वरूप का निरूपण है। *रामकथा* के सबसे बड़े भाग का सम्बन्ध इसके विकास से ही है। उन्होंने *रामकथा* के अतिरिक्त इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाले कई निबन्ध भी लिखे हैं, जिनमें इसके कुछ पात्रों के चरित्र विकास पर विचार किया गया है।

रामकथा में वे इस कथा के एक-एक प्रसंग के भारतीय और विदेशी प्रसार, स्थानीय रूपान्तर आदि का एक ऐसा मानचित्र तैयार करते हैं, जो पहले या तो खंडशः उपलब्ध था या एकदम अज्ञात था। भाषा-विशेष के सन्दर्भ में इस कथा के विभिन्न रूपों और ऐतिहासिक विकास के सम्बन्धित कई कार्य पहले भी हो चुके थे; जैसे, भारतीय राम-साहित्य पर जर्मन में बाउमगार्टन (1894 ई.), बर्मी रामायण पर कोनोर (1915 ई.), तिब्बती रामकथा पर एम. एल. लालू (1936 ई.), असमिया रामकथा पर असमिया में उपेन्द्र चन्द्र लेखारू (1948 ई.) और जैनी रामकथा पर नाथूराम प्रेमी के कार्य। किन्तु विश्व भर की रामकथाओं के एकत्र विवरणात्मक और तुलनात्मक निरूपण की दृष्टि से फ़ा. बुल्के का यह कार्य न केवल प्रथम, बल्कि अद्वितीय है। अपने विस्तार और वैज्ञानिकता में यह भारत विद्या की महानतम उपलब्धियों में है। इससे एक बार गुज़रने के बाद राम-साहित्य का कोई भी अध्येता वही नहीं रह जाता, जो वह पहले था, बल्कि इस विषय पर सोच-समझ की उसकी पूरी दृष्टि ही बदल जाती है। इसके बाद वह स्वयं अपनी भाषा की रामकथा या उसके किसी राम-काव्य को अन्तरभाषिक और अन्तरराष्ट्रीय सन्दर्भ में देखने-परखने लगता है।

अपने शोध-ग्रन्थ के 'रामकथा का विकास' में फ़ा. बुल्के इसकी विवेच्य सामग्री का विश्लेषण जिस पद्धति से करते हैं, वह यह है—(i) *वाल्मीकि-रामायण* के वर्तमान रूप के आधार पर प्रत्येक कांड की कथावस्तु का अलग-अलग प्रसंगों में विभाजन तथा प्रत्येक प्रसंग की वर्गीकृत विषय-सूची का उल्लेख; (ii) *वाल्मीकि-रामायण* के तीन पाठों में से प्रत्येक के आधार पर पूर्व-निर्दिष्ट प्रसंगों के अन्तर्गत आनेवाले विवरणों का विभेद-निरूपण, जिससे यह संकेत मिलता है कि प्रारम्भ में आदिकाव्य के कांड विशेष की सामग्री का रूप क्या रहा होगा, और (iii) भारत तथा विदेशों में, प्रत्येक प्रसंग के एक-एक विवरण के सन्दर्भ में उपलब्ध समानताओं और भेदों का

विस्तृत निरूपण। उदाहरण के लिए, वह वाल्मीकीय बालकांड की कथावस्तु को जिन प्रसंगों में विभक्त कर प्रत्येक की विषय-सूची देते हैं, वे प्रसंग हैं—(1) भूमिका, (2) दशरथ-यज्ञ, (3) राम का जन्म और प्रारम्भिक कृत्य, (4) पौराणिक कथाएँ, (5) राम-विवाह और (6) सीता की जन्मकथा। उनकी पुस्तक में बालकांड से लेकर उत्तरकांड तक के प्रसंगों की कुल संख्या तेईस है।

रामकथा के विकास-सम्बन्धी विवेचन द्वारा फ़ा. बुल्के यह स्पष्ट करते हैं कि इसके कथानक के किसी भी प्रसंग या प्रसंग-विशेष के किसी भी घटक या विवरण का स्वरूप अलग-अलग भाषाओं, युगों और देशों में सदैव एक-जैसा नहीं रहा है। अपनी अपूर्व और कालजयी लोकप्रियता के कारण विभिन्न भारतीय और विदेशी भौगोलिक क्षेत्रों तक विस्तृत रामकथा में जिस विविधता का समावेश हुआ है, वह सहज-स्वाभाविक है। इस पर आधारित साहित्य की सामग्री न जाने कितनी सांस्कृतिक और धार्मिक परम्पराओं के साँचे में ढलती रही है तथा न जाने कितने लिखित और मौखिक स्रोतों से इसमें नई-नई बातों का समावेश होता रहा है। यही नहीं, विभिन्न देशों के रचनाकारों की निजी उद्भावनाओं ने भी इसमें बहुत-कुछ जोड़ा है। फ़ा. बुल्के इसे किस रूप में स्पष्ट करते हैं, यह उनके एतद्सम्बन्धी विवेचन के कुछ उदाहरणों से समझा जा सकता है।

यहाँ 'दशरथ के विवाह' (*रामकथा*, पृ. 286-289) और 'रामकथा का निर्वहण' (वही, पृ. 711-719) के आधार पर रामकथा के विकास के वैविध्यमूलक स्वरूप को स्पष्ट किया जा रहा है।

दशरथ की पत्नियों की संख्या, उनके नामों और दशरथ के विवाहों के विषय में अलग-अलग राम-काव्यों में अलग-अलग उल्लेख मिलते हैं।

आनन्द रामायण (1,1,32-74) में दशरथ और कौशल्या के विवाह का विस्तृत उल्लेख मिलता है। ब्रह्मा से यह सूचना मिलने पर कि इस विवाह से उत्पन्न पुत्र उसका वध करेगा, रावण सरयू में दशरथ की नौका तोड़कर उन्हें पराजित करता और कौशल्या को एक पेटिका में रखकर तिमिंगल की रखवाली में छोड़ देता है। तिमिंगल पेटिका को एक दूसरे द्वीप में रखकर एक दूसरे मत्स्य से युद्ध करने लगता है। टूटे नौकाखंड पर बहते हुए दशरथ और सुमन्त्र उस द्वीप में पहुँचते, पेटिका खोलकर दशरथ कौशल्या से गान्धर्व विवाह करते और फिर तीनों उसी पेटिका में छिप जाते हैं। रावण को ब्रह्मा से दोनों के विवाह की जानकारी मिलती है, तो वह पेटिका खोलकर इन तीनों का वध करना चाहता है। ब्रह्मा रावण को इससे रोकते हैं। पेटिका साकेत भेजी जाती है। वहाँ दशरथ सुमित्रा, कैकेयी और अन्य सात सौ स्त्रियों से विवाह करते हैं। *भावार्थ रामायण* (5,9), *पाश्चात्य वृत्तान्त* नं. 13, *स्वायंभुव रामायण* तथा *रामचरितमानस* के कुछ संस्करणों के एक प्रक्षेप में इस कथा का भी उल्लेख किया गया है।" (वही, पृ. 286)

पउमचरियं में राम की माता का नाम अपराजिता, उत्तरपुराण (गुणभद्र) में सुबाला और पूर्वजन्म-विषयक कथाओं में अदिति, शतरूपा, कलहा, वीरमती या सिन्धुमती है।

वाल्मीकि-रामायण में कैकेयी के स्वयंवर की चर्चा नहीं है, किन्तु *पउमचरियं* में पहली बार इसका वर्णन किया गया है। वहाँ यह कथा मिलती है कि रावण के भय से दशरथ और जनक गुप्त वेश में इस स्वयंवर में आते हैं, वहाँ कैकेयी दशरथ का वरण करती है और स्वयंवर में आए राजाओं से हुए युद्ध में उनका रथ हाँकती है। दशरथ उसे वर देते हैं। *कृत्तिवासी रामायण* और माधवदेव के *असमिया बालकांड* में इस स्वयंवर का वर्णन तो है, किन्तु युद्ध का नहीं। *सत्योपाख्यान* में दोनों के विवाह के विस्तृत वर्णन में नारद द्वारा दशरथ के सामने कैकेयी की प्रशंसा, दशरथ द्वारा भेजी गई देवयोगिनी द्वारा कैकेयी के मन में उनके प्रति प्रेम की उत्पत्ति और विरह वेदना और कैकेय नरेश द्वारा दशरथ से विवाह के समय कैकेयी के पुत्र को राज्य देने की शर्त का वर्णन हुआ है।

वाल्मीकि के दाक्षिणात्य पाठ में सुमित्रा का कोई उल्लेख नहीं है, किन्तु उसके उदीच्य पाठ में उसे वामदेव की दत्तक पुत्री कहा गया है। *रघुवंश* में उसे मगधराज की पुत्री कहा गया है। *पउमचरियं* के अनुसार कैकेयी से विवाह के बाद दशरथ उसका नाम सुमित्रा रखते हैं। *कृत्तिवासी रामायण* में वह सिंहल राज सुमित्र की पुत्री है। *असमिया बालकांड* में भी वह सुमित्र की पुत्री है।

वाल्मीकि-रामायण और उसके परवर्ती राम-काव्यों में से अधिकतर में दशरथ की तीन पटरानियाँ हैं—कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी। किन्तु कई जैन और बौद्ध रामकथाओं में उनकी संख्या चार बताई गई है। रविषेण, हेमचन्द्र आदि ने उनके नाम अपराजिता (कौशल्या), सुमित्रा, कैकेयी और सुप्रभा (शत्रुघ्न की माता) दिए हैं। *पद्मपुराण* में भी दशरथ की पटरानियों की संख्या चार बताई गई है। वहाँ कैकेयी का नाम सुरूपा दिया गया है और सुमित्रा का सुवेषा। दशरथ की चार पटरानियों की चर्चा *दशरथ-कथानम्* और जे.ए. दुब्बा (19वीं श. ई.) की रामकथा में भी है।

इसके विपरीत, "रामकथाओं का एक अन्य वर्ग मिलता है, जिसमें दशरथ की केवल दो महिषियों की चर्चा है।" (वही, पृ. 288) *दशरथ-जातक, तिब्बती रामायण, खोतानी रामायण, हिकायत सेरी राम, हिकायत महाराज रावण* और जे.बी. ट्रावर्नियें (18वीं श. ई.) के यात्रा वृत्तान्त में दशरथ की दो पटरानियों की ही चर्चा है। किन्तु भुइंया माधवदास की *विचित्र रामायण* (ओड़िया) में उनकी पटरानियों की संख्या 21 बताई गई है, जिनमें तीन को प्रधान कहा गया है।

जहाँ तक दशरथ की पत्नियों का प्रश्न है, *वाल्मीकि-रामायण* में उनकी संख्या 350, *पउमचरियं* में 500, *आनन्द-रामायण* में तीन पटरानियों को छोड़कर 700, *सारला महाभारत* में 750, *असमिया बालकांड* में 700 और *दशरथ-जातक* में 16000

है। *बिरहोरी रामकथा* में उनकी संख्या 7 है और *सेरतकांड* (जावा) में दो महिषियों के अतिरिक्त 6 अन्य अर्थात् 8 है।

रामकथा के विकास के वैविध्यमूलक स्वरूप का दूसरा उदाहरण 'राम कथा का निर्वहण' (वही, पृ. 711-719) है।

डॉ. बुल्के ने इस प्रसंग के विश्लेषण द्वारा यह निरूपित किया है कि प्रारम्भ में रामकथा का रूप सुखान्त था :

> "...वाल्मीकिकृत *आदिरामायण* राम के अभिषेक तथा उनके ऐश्वर्यशाली राज्य के संक्षिप्त वर्णन पर समाप्त होता था। सीतात्याग के विकास के निरूपण में उन प्राचीन रचनाओं की नामावली दी गई है, जिनमें न तो सीतात्याग और न सीता के भूमि प्रवेश की ओर संकेत किया गया है। अतः राम द्वारा रावण की पराजय तथा सीता की पुनःप्राप्ति उन समस्त रामकथाओं का अन्तिम वर्ण्य विषय है।...*अनाकम् जातकम्* (और सम्भवतः गुणाढ्यकृत *बृहत्कथा*) में भी रामकथा सुखान्त है।" (वही, पृ. 712)

वे इस प्रसंग में गुणभद्र के *उत्तरपुराण* का भी उल्लेख करते हैं, जहाँ सीता-त्याग की चर्चा नहीं है। इसके अन्त में राम *जैनदी* लेते हैं और सीता आर्यिका बन जाती हैं।

किन्तु *वाल्मीकि-रामायण* का वर्तमान रूप दुःखान्त है। इसमें लोकापवाद के कारण सीता-त्याग, अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर राम द्वारा सीता और लव-कुश को आमन्त्रण तथा लोक को अपनी पवित्रता पर विश्वास दिलाने के लिए सीता से अपना सतीत्व प्रमाणित करने के उल्लेख की चर्चा हुई है। इसमें सीता के शपथ खाने पर पृथ्वी देवी के स्वयं भूमि से प्रकट होकर उनको अपनी शरण में ले लेने का भी उल्लेख हुआ है।

डॉ. बुल्के रामकथा के दुःखान्त निर्वहण के तीन सोपान मानते हैं—सीता का भूमि-प्रवेश, राम द्वारा लक्ष्मण-त्याग और राम का स्वर्गारोहण। वाल्मीकि में सीता के भूमि-प्रवेश के बाद यह कथा आई है कि काल-तपस्वी से एकान्त में बात करने समय दुर्वासा लक्ष्मण को शाप का भय दिखलाकर अन्दर आ जाते हैं। इस पर राम लक्ष्मण का त्याग करते हैं, जिससे दुःखी होकर वे सरयू तट पर देह-त्याग करते हैं और इन्द्र द्वारा सशरीर स्वर्ग में आरोहित कर लिए जाते हैं। लक्ष्मण के वियोग से दुःखी राम, ब्रह्मा के अनुरोध पर, अपने विष्णु रूप में भाइयों के साथ स्वर्ग में प्रवेश करते हैं।

रामकथा के दुःखान्त निर्वहण का यही रूप *रघुवंश, अध्यात्म-रामायण* आदि में मिलता है, किन्तु अनेक रचनाओं में सीता के भूमि-प्रवेश की कथा में परिवर्तन भी हुआ है; जैसे, *भागवतपुराण,* (9,11,15-16), *रामायण मसीही, विचित्र रामायण* (भुइयां माधवदास), *भावार्थ रामायण* और *पउमचरियं* में।

रामकथाओं का एक ऐसा वर्ग मिलता है, जिसमें सीता-त्याग तो है, लेकिन

कथा का निर्वहण सुखान्त है। फ़ा. बुल्के रामकथा के इस रूप को 'अर्वाचीन सुखान्त रामकथा' कहते हैं। इस रूप का एक उदाहरण भवभूति का *उत्तररामचरित* है। यही निर्वहण अलग-अलग रूपों में *बृहत्कथामंजरी, कुन्दमाला* और *आनन्द रामायण* में भी मिलता है।

जिन रचनाओं में कुश-लव युद्ध के अवसर पर सीता राम से मिलती और उनके साथ अयोध्या लौट आती हैं, वे हैं—*कथासरित्सागर, जैमिनीय अश्वमेध, पद्म-पुराण, रामचन्द्रिका, रामलिंगामृत, रामजातक, ब्रह्मचक्र, सिंहली रामकथा* और चीगेन-बाल्क की जर्मन रामकथा (18वीं श. ई.)।

तिब्बती रामायण, *सेरत कांड* और *सेरी राम* में राम और सीता के पुनर्मिलन और अयोध्या वापसी की कथा आती है। *अद्भुत-रामायण* (रघुनाथ महन्थ) में यह उल्लेख आया है कि किस प्रकार सीता स्वयं स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान होकर पृथ्वी से राम के सामने प्रकट होती हैं, उन्हें लव-कुश को समर्पित करती हैं और उनसे यह प्रतिज्ञा करती हैं कि, "मैं प्रतिदिन नित्य क्रिया के पश्चात् आपकी सेवा में उपस्थित हो जाऊँगी।" (रामकथा, पृ. 718)

रामकेर्ति और *रामकियेन* में सीता पहले लव और कुश को राम को सौंपने के बाद अयोध्या लौटना अस्वीकार करती हैं, किन्तु कुछ काल पश्चात् कैलाश पर राम द्वारा क्षमा याचना करने पर, ईश्वर के अनुरोध के कारण, अयोध्या लौट आती है।

रामकथा की विकासमूलक प्रकृति की समझ का एक अन्य प्रसंग है—इसके पात्रों का चरित्र-विकास। यह बात डॉ. बुल्के द्वारा समय-समय पर रामकथा के कुछ विशिष्ट पात्रों के चरित्र-विकास पर लिखे गए निबन्धों से भी सामने आती हैं वे निबन्ध हैं—पुरुषाद सौदास, सीता की सखी त्रिजटा, रामकथा साहित्य में भरत और हनुमान के चरित्र-चित्रण का विकास। इनके द्वारा वे यह निरूपित करते हैं कि लोकगाथाओं के रूप में रामकथा के प्रचलन के समय से आज तक इसके पात्रों की अवधारणा एकरूप नहीं रही है, वरन् भारत और बाहर के देशों में उसमें नए-नए कथा एवं विचार स्रोतों से नई-नई घटनाओं और अभिप्रायों का समावेश होता रहा है। *वाल्मीकि-रामायण* से लेकर आज तक लिखे गए राम-काव्यों में एक ही पात्र की जन्मकथाओं, अन्य पात्रों से उसके सम्बन्धों और उसके कार्यकलाप के कारणों के प्रसंग में इतने अधिक परिवर्तन हुए हैं कि उसकी कोई स्थिर-अचल संकल्पना बनाना सम्भव नहीं है। देश और काल के प्रवाह में वह बार-बार नए-नए रूप में परिभाषित हुआ है। लेकिन उसके, बल्कि रामकथा के अन्य सभी पात्रों के जो विम्ब भक्तिकाल में लोक मानस में स्थिर—जैसे हो गए हैं, उनको सही-सही समझने के लिए भी उनके विकास की प्रक्रिया की जानकारी आवश्यक है। अतः राम-साहित्य की आशंसा के विचार से इन निबन्धों का भारी महत्त्व है; क्योंकि इनसे गुज़रने पर हम इसके पात्रों को रचना विशेष की सीमा से बाहर ले जाकर एक बड़े दिक्कालिक सन्दर्भ में देखने

लगते हैं और यह समझ पाते हैं कि यदि उनका स्वरूप इस प्रकार का है, तो इसके कारण क्या हैं।

'पुरुषाद सौदास' शीर्षक लम्बे निबन्ध (*मंथन*, पृ. 173-196) के प्रस्तावना-भाग में डॉ. बुल्के कहते हैं, "सौदास की कथा का विकास अत्यन्त रोचक है। इसका मूल स्रोत *ऋग्वेद* में विद्यमान है। किन्तु बाद में इस कथा पर बौद्ध संसार में सुप्रसिद्ध *सुतसोम जातक* का प्रभाव पड़ा।" (वही : 173) *संयुक्तावदान*, *महासुतसोम जातक* आदि बौद्ध ग्रन्थों में ऋग्वेदीय सौदास की कथा नरभक्षी राजा कल्माषपाद और सत्यवादी राजा सुतसोम की कथा बन गई है, किन्तु *रामायण* और *महाभारत* में नरभक्षी कल्माषपाद के साथ राजा सौदास का तादात्म्य स्थापित हो जाता है। यही कथा *रामचरितमानस* में राजा प्रताप भानु की कथा का रूप लेती है। इस कथा की विशेषता यह है कि ब्राह्मणों के शाप से राक्षस बना राजा प्रताप भानु रावण के रूप में जन्म लेता है। इस प्रकार, यह कथा *रामचरितमानस* की रामावतार-सम्बन्धी पाँच हेतुकथाओं में से एक बन जाती है।

'रामकथा साहित्य में भरत' में यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार प्रारम्भ में आदर्श भाई के रूप में प्रस्तुत भरत के चरित्र में, राम-भक्ति के विकास के बाद, आदर्श राम-भक्त का एक नया आयाम जुड़ गया है और अन्त में वह स्वयं भी विष्णु के चतुर्थांश अवतार बन गए हैं। इसी तरह, 'सीता की सखी त्रिजटा' में यह स्पष्ट किया गया है कि स्वदेश और विदेश की रामकथाओं में सीता की सखी और रावण के विरुद्ध उनकी सहायता करनेवाली त्रिजटा का समय के साथ महत्त्व बढ़ता गया और अन्त में उसमें सीता की स्नेही सरमा आदि राक्षसियों के चरित्र का समाहार हो गया, "*वाल्मीकि-रामायण* के अनुसार विभिन्न राक्षसियों ने सीता के लिए जो कुछ भी किया था, वह सब बाद में त्रिजटा का उपकार बनता गया है।" (*मंथन*, पृ. 205)

'हनुमान् के चरित्र-चित्रण का विकास' (हिन्दी अनुशीलन पत्रिका, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक : 342-350) में प्रकाशित हुआ है। इसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि आज हम हनुमान् के जिस रूप से परिचित हैं, वह उनके चरित्र में क्रमशः अनेकानेक विशेषताओं के समावेश का परिणाम है। प्रारम्भ में वायुपुत्र का मूल अर्थ विद्याधर या ऐन्द्रजालिक है, जो उनके अद्भुत कार्यकलाप से भी सूचित होता है; लेकिन इस शब्द के आधार पर वायु द्वारा अंजना के गर्भ से उनके जन्म की कथा प्रारम्भ हुई। प्रचलित *वाल्मीकि-रामायण* में न केवल उनकी यह जन्मकथा मिलती है, बल्कि उनके लिए मारुति, वायुसुत, पवनसुत आदि विशेषणों का भी प्रयोग मिलता है। उनके चरित्र का एक नया आयाम उनका चिरंजीवत्व है। *महाभारत* के रामोपाख्यान में हनुमान् को सीता के इस आशीर्वाद का उल्लेख मिलता है कि, "राम की कीर्ति की तरह तुम्हारी भी कीर्ति अमर रहेगी।" (*महाभारत* : 3/275/43) *रामायण* में राम स्वर्ग गमन के पूर्व उन्हें चिरंजीवत्व प्रदान करते हैं (3/147)। इससे सम्बन्धित सामग्री का

विश्लेषण करने के बाद फ़ा. बुल्के यह कहते हैं कि हनुमान् की अमरकीर्ति-विषयक उक्तियों से ही उनके चिरंजीवत्व का विचार प्रारम्भ हुआ है। (वही, पृ. 347)

मध्यकालीन राम-साहित्य में हनुमान् का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। डॉ. बुल्के विभिन्न पुराणों और रामायणों के आधार पर यह निरूपित करते हैं कि उनके चरित्र में 'चार नवीन विशेषताएँ मिल गई हैं।' (पृ. वही) उनकी पहली विशेषता यह है कि वे रुद्रावतार माने जाते हैं। उनकी दूसरी विशेषता उनका आदर्श रामभक्त रूप है, तीसरी विशेषता अखंड ब्रह्मचर्य है और चौथी विशेषता उनके प्रति वह बढ़ता हुआ भक्तिभाव है, जो उन्हें एक स्वतन्त्र उपास्यदेव के रूप में प्रतिष्ठित करता है। फ़ा. बुल्के कहते हैं :

> "परवर्ती साहित्य के अनुशील से प्रतीत होता है कि दसवीं तथा पन्द्रहवीं शताव्दी के बीच हनुमद्-भक्ति का पूर्ण विकास हुआ था। उनकी पूजा का उद्देश्य प्रधानतया विघ्नशान्ति तथा भूत-प्रेतों का नाश माना गया है; पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद के साहित्य में हनुमान् का यह संकटमोचन रूप सर्वाधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। इसके अतिरिक्त बाँझपन दूर करने के लिए भी हनुमान् की पूजा होने लगी और वे गाँव के संरक्षक तथा मन्दिरों के द्वारपाल बन गए।" (वही, पृ. 349-350)

फ़ादर बुल्के कहते हैं कि हनुमान् के संकटमोचन रूप का एकमात्र आधार *रामायण* नहीं है, वल्कि यक्षपूजा या वीरपूजा से उनका वह सम्बन्ध है, जो उन्हें महावीर बना देता है।

इस प्रकार, डॉ. कामिल बुल्के रामकथा-सम्बन्धी अपने विस्तृत अध्ययन में यह निरूपित करते हैं कि उसके घटना-प्रसंगों और पात्रों के स्वरूप में अनेकानेक परिवर्तन हुए हैं। किन्तु इसके साथ-साथ वह यह भी स्पष्ट करते हैं कि समस्त देशकालगत भेदों और परिवर्तनों के बावजूद उसकी मौलिक एकता आज तक अक्षुण्ण बनी हुई है। *रामकथा* के उपसंहार में वह कहते हैं :

> "...व्यापक प्रसार के साथ-साथ कथानक में परिवर्द्धन तथा परिवर्तन भी होते रहे हैं, जिसके फलस्वरूप विभिन्न रामकथाओं की उत्पत्ति हुई है, जो एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न प्रतीत होती हैं। किन्तु इन विभिन्न रामकथाओं की मौलिक एकता ही हमारे अध्ययन का सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है।"
>
> (वही, पृ. 720)

वे इस मौलिक एकता का श्रेय वाल्मीकि को देते हैं और कहते हैं, "विश्व साहित्य के इतिहास में शायद ही किसी ऐसे कवि का प्रादुर्भाव हुआ हो, जिसने भारत के आदिकवि के समान इतने व्यापक रूप से परवर्ती साहित्य को प्रभावित किया हो।" (वही, पृ. 724)

□

4

फ़ादर बुल्के की तुलसी-दृष्टि

तुलसीदास फ़ा. कामिल बुल्के के सबसे प्रिय कवि और उनकी धर्म-साधना के प्रेरक आदर्श थे। उनके सम्पर्क के लोगों को उनके जैसे प्रखर बौद्धिक की धर्म-निष्ठा और एक विदेशी के हिन्दी-प्रेम की तरह समर्पित ईसाई संन्यासी की तुलसी-भक्ति बहुत असमंजसपूर्ण लगती थी और वे उनसे तरह-तरह के प्रश्न किया करते थे। इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए वे जो कुछ कहते हैं, उससे इन प्रश्नों का एकत्र समाधान हो जाता है :

> "इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए, जब मैं अपने जीवन पर विचार करता हूँ, तो मुझे लगता है कि ईसा, हिन्दी और तुलसीदास—ये वास्तव में मेरी साधना के तीन प्रमुख घटक हैं और कि मेरे लिए उन तीन तत्त्वों में कोई विरोध नहीं, बल्कि गहरा सम्बन्ध है।" (एक ईसाई की आस्था, हिन्दी-प्रेम और तुलसी-भक्ति : धर्मयुग, 27 दिसम्बर, 1970 ई.)

तुलसी से उनका पहला साक्षात्कार स्वयं अपने देश बेल्जियम में विश्व-साहित्य के एक जर्मन काव्य-संकलन में हुआ था। हिन्दी के प्रति उनके आकर्षण के एक प्रमुख कारण तुलसी हैं, जिन्हें मूल में पढ़ने के लिए उन्होंने अपने गुमला-प्रवास में यह भाषा सीखी थी। हिन्दी के उच्चतर अध्ययन और रामकथा पर शोधकार्य के क्रम में तुलसी-साहित्य की उनकी अवगति और भी गहरी होती गई और उन्होंने इसकी लोकप्रियता, प्रभाव और कवित्व आदि पर समय-समय पर बहुत कुछ लिखा। *रामकथा और तुलसीदास* (1977 ई.) उनके एतत्सम्बन्धी मुख्य विचारों की प्रतिनिधि पुस्तक है, लेकिन वे इसको तुलसी के सम्बन्ध में अपना एक अपूर्ण वक्तव्य भर मानते थे। उन्होंने *बाइबिल* का अनुवाद पूरा करने पर इस विषय पर एक पूर्णतर और विस्तृत पुस्तक की योजना बनाई थी :

> "*बाइबिल* का अनुवाद पूरा होने पर...मैं निश्चय ही तुलसी पर एक पुस्तक लिखूँगा। मैं उनके विश्वजनीन सन्देश पर अधिक विस्तार से लिखना चाहूँगा। इसके लिए मैं तीन-चार वर्षों तक उनकी रचनाओं का बारम्बार पारायण कर उनके मर्म को अधिक-से-अधिक स्पष्टता से हृदयंगम करना चाहूँगा।"
>
> (आलोचना 75, पृ. 16)

यद्यपि वह इस योजना पर कार्य करने के पहले ही दिवंगत हो गए, किन्तु इस विषय से सम्बन्धित उनकी रचनाओं से स्पष्ट है कि वे रामकथा के समग्र और विकासमूलक परिदृश्य में तुलसी के वैशिष्ट्य की व्याख्या करनेवाले प्रथम हिन्दी समीक्षक हैं। वे रामकथा के अर्थ से लेकर उसके अद्यतन विकास के प्रथम निरूपणकर्त्ता हैं, इसलिए उसकी ऐतिहासिक पीठिका में *रामचरितमानस* के मूल्यांकन की जो सुविधा उन्हें उपलब्ध है, वह हिन्दी के किसी अन्य पूर्ववर्ती या समकालीन समीक्षक को नहीं है। वे तुलसी की रामकथा के विभिन्न घटकों के स्रोतों, इस कथा की विभिन्न परम्पराओं से तुलसी की रामकथा के सादृश्य और विभेदों तथा उसकी मौलिकता एवं अपारम्परिकता का निरूपण जिस प्रामाणिकता और आत्मविश्वास के साथ करते हैं, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

डॉ. बुल्के ने तुलसी-सम्बन्धी जिन प्रसंगों पर विशेष रूप से विचार किया है, वे हैं—*मानस* का रचनाक्रम, रामकथा और *मानस* की रामकथा, तुलसी की भक्ति, *मानस* की लोकप्रियता के कारण और *मानस* की प्रासंगिकता।

यहाँ उपर्युक्त प्रसंगों से सम्बन्धित उनके विचारों का उल्लेख किया जा रहा है।

मानस का रचनाक्रम

फ़ा. बुल्के ने इस सम्बन्ध में दो निबन्ध लिखे हैं—*मानस* का रचनाक्रम (*आलोचना*, जुलाई, 1953 ई.; अंक-4, पृ. 71-74) और *रामचरितमानस* का रचनाक्रम (*हिन्दी अनुशीलन*, 1954 ई.; अंक 3, पृ. 1-14)। दूसरा निबन्ध उनके पहले निबन्ध का ही विस्तृत रूप है। उनकी व्याख्यानमाला 'रामकथा और तुलसीदास' में 'रचना क्रम' शीर्षक (51-58) के अन्तर्गत इन निबन्धों की सामग्री ही शब्द-भेद से उपलब्ध होती है।

यह बात परम्परा से प्रसिद्ध है कि तुलसी ने *रामचरितमानस* की रचना एक ही बार में नहीं की थी। उन्होंने पहली बार रामभक्ति के प्रतिपादन और भक्त के आदर्श रूप की प्रस्तुति के लिए आज के अयोध्याकाण्ड की रचना की थी। इस रचना में उन्होंने भरत का चरित लिखा था। इसकी पुष्पिका में कहा गया है :

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति ॥ 327

बाद में इस रचना की लोकप्रियता से प्रेरित होकर उन्होंने *रामचरितमानस* के अन्य छह काण्डों की रचना कर अपने उपास्य राम की पूरी कथा प्रस्तुत की; किन्तु परवर्ती अनुसन्धानकर्ताओं ने यह प्रमाणित किया कि *मानस* की रचना दो सोपानों के बजाय तीन सोपानों में पूरी हुई।

रामनरेश त्रिपाठी इस विषय के प्रथम अनुसन्धानकर्ता हैं। उन्होंने स्वयं *मानस*

में विद्यमान इसके रचनाक्रम के संकेतों के आधार पर यह कहा है कि, "अयोध्याकाण्ड समाप्त करके तुलसीदास ने बालकाण्ड का अन्तिम भाग पहले लिखा और फिर बालकाण्ड की प्रारम्भिक भूमिका लिखकर इसे पूरा किया।" (*तुलसीदास और उनकी कविता*, पृ. 223)

रामनरेश त्रिपाठी के बाद क्रमशः डॉ. माताप्रसाद गुप्त और डॉ. वोदवील ने इस विषय पर अलग-अलग विचार करते हुए *मानस* के रचनाक्रम की एक वस्तुनिष्ठ और वैज्ञानिक रूपरेखा निर्धारित की है। इस विषय में दोनों का निष्कर्ष एक जैसा है--वह यह कि इसकी रचना तीन बार में पूरी हुई। डॉ. माताप्रसाद गुप्त यह कहते हैं कि, "काव्य का जो स्वरूप हमारे सामने है, वह कम-से-कम तीन विभिन्न प्रयासों का परिणाम जान पड़ता है।" (*तुलसीदास*, पृ. 263)

डॉ. माताप्रसाद गुप्त *रामचरितमानस* की इन तीन पाण्डुलिपियों या प्रयासों का नामकरण इस रूप में करते हैं—*रामचरित*, *शिवरामायण* और *भुशुण्डिरामायण*। पाण्डुलिपियों के विस्तार के विषय में डॉ. गुप्त और डॉ. वोदवील में मतैक्य नहीं है। फ़ा. बुल्के इस बात से तो सहमत हैं कि *रामचरितमानस* के विकास के सोपान वही हैं, जो डॉ. गुप्त और डॉ. वोदविल ने प्रस्तुत किये हैं, किन्तु वे इनके द्वारा प्रस्तुत पाण्डुलिपि-सम्बन्धी विस्तारगत विवरण से सर्वत्र सहमत नहीं हैं। वे इस विषय में अपना स्वतन्त्र मत प्रस्तुत करते हैं। वे डॉ. माताप्रसाद गुप्त द्वारा प्रस्तुत तीन पाण्डुलिपियों में से अन्तिम पाण्डुलिपि के नाम *भुशुण्डिरामायण* से भी सहमत नहीं हैं। वे इसका नाम *रामचरितमानस* कहते हैं। वे इस काव्य के पाठ-विश्लेषण द्वारा दो मुख्य बातों का विशेष रूप से उल्लेख करते हैं—पहली बात यह कि इसकी छन्द-योजना सर्वत्र एक-जैसी नहीं है और दूसरी यह कि इसमें वक्ता-श्रोता पद्धति का अनुपालन सदैव एक ही रूप में नहीं हुआ है। उनका विचार है कि इन दो बातों के आधार पर इसकी समीक्षा करने पर इसके रचनाक्रम का निर्धारण कठिन नहीं है।

प्रथम पाण्डुलिपि : *रामचरितमानस*

डॉ. बुल्के के अनुसार, प्रथम पाण्डुलिपि की रचना के समय तुलसी के मन में, "अपनी रचना को एक धर्मग्रन्थ या साम्प्रदायिक रामायण का रूप देने का या इसमें कोई पौराणिकता लाने का विचार नहीं आया था।" (*रामचरितमानस* का रचनाक्रम, *मन्थन*, पृ. 145) वे अपनी भक्ति के प्रकाशन के लिए स्वान्तः सुखाय राम की कथा प्रस्तुत करना चाहते थे। इस पाण्डुलिपि का मुख्य भाग अयोध्याकाण्ड है और इसका वक्ता स्वयं कवि है। इसके अधिकतम भाग में अर्द्धाली समूह 8 के हैं, 25वें दोहे के बाद हरिगीतिका छन्द की योजना हुई है और इसके बाद दोहे के बदले सोरठा आया है। प्रायः यही छन्दयोजना बालकाण्ड के उत्तरार्द्ध (दोहा 184-361) की है, जिसका वक्ता कवि है। डॉ. माताप्रसाद इसे प्रथम पाण्डुलिपि का भाग मानते हैं, जिसे फ़ा. बुल्के भी

स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त, वे रामनरेश त्रिपाठी का यह मत भी स्वीकार करते हैं कि इस पाण्डुलिपि में अरण्यकाण्ड का प्रारम्भिक अंश (दोहा 1-6) सम्मिलित था। वे डॉ. वोदवील के इस विचार से भी सहमत हैं कि बालकाण्ड की प्रस्तावना, भाग 1-29) इसका अंग है; किन्तु वे इन अनुसन्धानकर्ताओं द्वारा निर्दिष्ट अंशों के अतिरिक्त बालकाण्ड के कुछ अन्य अंशों को भी प्रथम पाण्डुलिपि का भाग मानते हैं, "मेरा दृढ़ विश्वास है कि उपर्युक्त सामग्री के अतिरिक्त अवतार की हेतु-कथाएँ तथा रावणचरित को भी प्रथम पाण्डुलिपि में सम्मिलित करना चाहिए। बालकाण्ड के इस अंश (दो. 121-184) का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर प्रतीत होता है कि इसका वास्तविक वक्ता कवि ही है। छन्दयोजना की दृष्टि से भी बालकाण्ड का यह अंश प्रथम पाण्डुलिपि का प्रतीत होता है।" (*रामकथा और तुलसीदास*, पृ. 53-54)

इस प्रकार, डॉ. बुल्के के अनुसार, *रामचरितमानस* की प्रथम पाण्डुलिपि का स्वरूप यह है :

(1) बालकाण्ड 1-29 (प्रस्तावना पूर्वार्द्ध)
(2) बालकाण्ड 121-361
—हेतु-कथाएँ और रावणचरित 121-183
—विष्णु-अवतरण और रामचरित 184-361
(3) अयोध्याकाण्ड सम्पूर्ण और अरण्यकाण्ड का प्रारम्भ (दो. 1-6)

द्वितीय पाण्डुलिपि : *शिवरामायण*

डॉ. बुल्के के अनुसार, प्रथम पाण्डुलिपि से द्वितीय पाण्डुलिपि का अन्तर यह है कि इसमें रामकथा को शिव-पार्वती-संवाद अर्थात् *शिवरामायण* का रूप दिया गया है। इसमें छन्दयोजना का स्वरूप बदल गया है—वह 'नितान्त अनियमित' हो गया है। इस पाण्डुलिपि में कवि का रचनागत उद्देश्य भी बदल गया है—वह अपनी रामकथा को धर्मग्रन्थ का रूप प्रदान करता है। स्वाभाविक है कि यहाँ आकर कवि कथावस्तु के निर्वाह की चिन्ता कम और अपने काव्य में आध्यात्मिक सामग्री के समावेश की चिन्ता अधिक करता है। सामग्री के परीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस पर *अध्यात्म रामायण* का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया है।

पौराणिक पद्धति की एक विशेषता प्रधान संवाद की भूमिका के रूप में उपसंवाद की योजना है। यह विशेषता *अध्यात्म रामायण* में भी पायी जाती है। इसके अनुरूप कवि शिव-पार्वती-संवाद के पूर्व याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद की योजना करता है। रचना के इस सोपान पर कवि अपने काव्य को सात काण्डों में विभाजित कर सम्पूर्ण रामकथा का रूप प्रदान करता है और शिव को प्रधान बनाता है। शिव-पार्वती-संवाद के प्रारम्भ में पार्वती शिव से राम के अवतार-हेतु, उनके जन्म से लेकर उनके स्वर्गारोहण तथा भक्ति एवं ज्ञान का रहस्य बतलाने का अनुरोध करती हैं। इससे भी

यह संकेत मिलता है कि कवि का प्रयोजन शिव द्वारा, पार्वती की जिज्ञासा के समाधान के लिए, वक्ता के रूप में सम्पूर्ण रामकथा प्रस्तुत करना है।

डॉ. बुल्के के अनुसार, द्वितीय पाण्डुलिपि में जिस नवीन सामग्री का समावेश हुआ है, वह निम्नलिखित है :

(1) बालकाण्ड 44-47 (याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद)
(2) बालकाण्ड 104-120 (शिव-पार्वती-संवाद)
(3) अरण्यकाण्ड (7-46) किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, लंकाकाण्ड और उत्तरकाण्ड पूर्वार्द्ध (1-52)

तृतीय पाण्डुलिपि : *रामचरितमानस*

द्वितीय पाण्डुलिपि में काकभुशुण्डि का कई बार उल्लेख हुआ है, किन्तु काकभुशुण्डि-गरुड़-संवाद के रूप में रामकथा और इससे सम्बद्ध विषयों की प्रस्तुति उत्तरकाण्ड के उत्तरार्द्ध की ही विशेषता है। फ़ा. बुल्के का अनुमान है कि द्वितीय पाण्डुलिपि की रचना के समय तुलसी के पास *भुशुण्डिरामायण* की कोई प्रति रही होगी, "अरण्यकाण्ड से लेकर वक्ता के रूप में जो भुशुण्डि के उल्लेख मिलते हैं, वे उस *भुशुण्डिरामायण* के उद्धरण हैं और कवि पर *भुशुण्डिरामायण* का बढ़ता हुआ प्रभाव प्रमाणित करते हैं। उत्तरकाण्ड उत्तरार्द्ध में प्रधान संवाद भुशुण्डि-गरुड़ का है और उपसंवाद शिव-पार्वती का है।" (*रामकथा और तुलसीदास*, पृ. 57) यदि बालकाण्ड के तीन प्रक्षिप्त स्थलों को छोड़ दें, तो ध्यान देने की बात यह है कि किसी भी काण्ड की पुष्पिका में कवि ने *रामचरितमानस* का उल्लेख नहीं किया गया है। फ़ा. बुल्के का अनुमान है कि या तो *भुशुण्डिरामायण* का दूसरा नाम *रामचरितमानस* रहा होगा या रामकथा के वर्णन के लिए मानस-रूपक का उपयोग हुआ होगा, "फलस्वरूप भुशुण्डि-गरुड़-संवाद को मिलाते समय तुलसी ने अपनी रचना को *रामचरितमानस* का नाम दिया है।" (वही, 57)

वे *रामचरितमानस* में समाविष्ट *शिवचरित* को भी एक समस्या मानते हैं। उनका अनुमान है कि *शिवचरित* की रचना प्रथम पाण्डुलिपि के समय हुई थी। इसके वक्ता स्वयं कवि हैं और इसकी अर्द्धालियाँ 8-8 की हैं। ये विशेषताएँ सूचित करती हैं कि इसकी रचना उस समय हुई थी, जब कवि के मन में शिव को वक्ता का रूप देने का विचार नहीं आया था। फ़ा. बुल्के इसे *रामचरितमानस* की तृतीय पाण्डुलिपि में जोड़ी हुई रचना मानते हैं, "शिवचरित सम्भवतः एक स्वतन्त्र रचना है, उसकी फलस्तुति (छन्द और दोहा 103) से भी यह अनुमान दृढ़ हो जाता है। तुलसीदास ने उसे *रामचरितमानस* की प्रथम पाण्डुलिपि के समय लिखा है और बाद में प्रस्तावना का उत्तरार्द्ध लिखने के पूर्व उसे अपने महाकाव्य में सम्मिलित किया है।" (वही, 58)

इस प्रकार फ़ा. बुल्के के अनुसार, *मानस* की तृतीय पाण्डुलिपि में जिस नयी सामग्री का समावेश हुआ है, वह है :

(1) प्रस्तावना-उत्तरार्द्ध (30-43) तथा *रामचरितमानस*-विषयक गौण प्रक्षेप
(2) उत्तरकाण्ड-उत्तरार्द्ध (52-130)
(3) बालकाण्ड (48-103) (पूर्वरचित *शिवचरित*)

रामकथा के विकास का तीसरा सोपान और *मानस* की रामकथा

डॉ. बुल्के रामकथा के ऐतिहासिक विकास को तीन सोपानों में विभाजित करते हैं और यह कहते हैं कि तुलसी की रामकथा इसके तीसरे सोपान का प्रतिनिधित्व करती है। उनके अनुसार, "रामकथा के विकास का पहला सोपान है—वाल्मीकि द्वारा अंकित आदर्श क्षत्रिय मर्यादा पुरुषोत्तम राम का चरित।" (*मन्थन*, पृ. 88) यह कथा बड़े लम्बे समय तक इसी रूप में प्रचलित थी। इसके राम आदर्श मानव थे—आदर्श पुत्र, पति, भ्राता, सखा, योद्धा और राजा। उनका चरित नरचरित था और उसको आधार बनाकर रचा गया काव्य नरकाव्य। यह कथा, केन्द्रीय विषय के विस्तार के विचार से, राम और सीता के आदर्श दाम्पत्य प्रेम की गाथा थी। फ़ा. बुल्के इस पर बौद्ध धर्म के दो परोक्ष प्रभावों का निर्देश करते हैं। पहला प्रभाव प्रतिक्रियामूलक है—जहाँ बौद्ध धर्म के बढ़ते हुए प्रसार के कारण दाम्पत्य जीवन के प्रति आदरभाव घटने लगा था, वहाँ *वाल्मीकि-रामायण* में दाम्पत्य प्रेम को इसका मुख्य प्रतिपाद्य बनाया गया है। दूसरा प्रभाव स्वीकारात्मक कहा जा सकता है—*महाभारत* के रणोत्सुक और उग्र परिवेश के विपरीत इसका परिवेश मानवीय और सौम्य है—"*रामायण* में चित्रित राम का शान्त स्वभाव और सौम्यता देखकर लगता है कि वह मुनि पहले हैं, क्षत्रिय बाद में। उनका यह चरित्र-चित्रण बौद्ध धर्म का परोक्ष प्रभाव माना जा सकता है।" (वही, पृ. 89)

रामकथा के विकास का दूसरा सोपान *मानस* राम का विष्णु के अवतार के रूप में परिवर्तन है। फ़ा. बुल्के के रामकथा-सम्बन्धी कार्यों के विवेचन-क्रम में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि तीसरी शताब्दी ई. पू. के आसपास वासुदेव कृष्ण का सम्बन्ध विष्णु के साथ स्थापित किया जाने लगा। इस समय तक ब्राह्मण धर्म में विष्णु की प्रतिष्ठा परम दैवत के रूप में हो चुकी थी। धीरे-धीरे कृष्ण आदि अनेक लोकप्रिय नायकों की, विष्णु के साथ तादात्म्य-निरूपण की प्रक्रिया में, राम की परिकल्पना विष्णु के अवतार के रूप में सुस्थिर हो गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि, "रामकथा आदर्श क्षत्रिय राम का चरित्र न रहकर विष्णु की अवतार लीला में परिणत हो गई।" (वही, पृ. 89) अवतारवाद के प्रभाव के कारण रामकथा में अलौकिकता का समावेश होने लगा, इसके पात्र धर्म और अधर्म के प्रतीकों में बदलने लगे और *वाल्मीकि-रामायण* के विभिन्न काण्डों, विशेषतः आदि और उत्तरकाण्डों में प्रक्षिप्त अंशों का समावेश होने लगा।

रामकथा के विकास का तीसरा सोपान रामभक्ति है। इस चरण में राम को न केवल विष्णु का अवतार माना गया, बल्कि स्वयं परब्रह्म का अवतार निरूपित किया गया। *रामचरितमानस* का सम्बन्ध रामकथा के विकास के इसी सोपान से है।

आज यह बतलाना बहुत कठिन है कि राम के प्रति भक्ति का विकास कब हुआ, किन्तु इसका पहला अकाट्य प्रमाण नवीं शताब्दी में तमिष्र के दिव्यप्रबन्धम् में मिलता है। इस शताब्दी के अवतार कुलशेखर की रचना में कृष्ण की तरह राम के प्रति भी असीम भक्तिभाव मिलता है। ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य रामभक्ति का सैद्धान्तिक प्रतिपादन करते हैं और भक्तिमत से सम्बन्धित संहिताओं तथा उपनिषदों की रचना होती है। इस युग में ऐसे रामायण ग्रन्थ लिखे जाते हैं, जिनका प्रतिपाद्य रामभक्ति है। इन रामायण ग्रन्थों में चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में लिखित *अध्यात्म रामायण, अद्भुत रामायण* और *आनन्द रामायण* का महत्त्व सबसे अधिक है। इनमें भी *अध्यात्म रामायण* का महत्त्व सर्वोपरि है और *रामचरितमानस* पर इसका प्रभाव प्रत्यक्ष रूप में पड़ा है।

रामचरितमानस रामकथा के विकास के तीसरे सोपान की सभी मुख्य विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें कथानक के बहुत-से प्रसंगों का स्वरूप बदल गया है—मुख्यतः सीताहरण और रावणवध का। इसमें रावण वास्तविक सीता का नहीं, बल्कि मायासीता का हरण करता है। रावण के वध के बाद मायासीता अग्नि में प्रवेश करती हैं और वास्तविक सीता उससे बाहर आ जाती है। *मानस* का यह मायासीता प्रसंग *अध्यात्म रामायण* का है। *वाल्मीकि रामायण* का रावण काममोहित होकर सीता का हरण करत है और राम द्वारा मारा जाता है; किन्तु रामभक्ति साहित्य का रावण प्रच्छन्न रामभक्त है, जो मोक्ष प्राप्त करने के लिए सीता का हरण करता है। *रामचरितमानस* का रावण कहता है :

सुर-रंजन भंजन महिभारा। जौं भगवन्त लीन्ह अवतारा ॥
तौं मैं जाइ बैरु हठि करउँ। प्रभु सर प्रान तजें भव तरउँ ॥
होइहि भजन न तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ रहा ॥ (3, 23)

इस सोपान की रामकथा में सीताहरण और रावणवध के प्रसंगों का अभिप्राय ही नहीं बदलता है, बल्कि राम के पक्ष और प्रतिपक्ष, दोनों के पात्र प्रत्यक्ष या परोक्ष रामभक्त बन जाते हैं। फ़ा. बुल्के कहते हैं कि यह वह सोपान है, "जहाँ पहुँचकर रामकथा विष्णु की अवतार लीला मात्र न रहकर भगवान् राम के गुणकीर्तन में परिणत हो जाती है।" (*मन्थन*, पृ. 93)

किन्तु तुलसी की रामकथा का वैशिष्ट्य केवल यह नहीं है कि यह रामकथा के विकास के तीसरे सोपान का प्रतिनिधित्व करती है। इसका एक अन्य वैशिष्ट्य यह भी है कि यह एक बड़ी सीमा तक तुलसी की अपनी रचना है—रचना इस अर्थ में नहीं

कि यह कोई उत्पाद्य कथा है, बल्कि इस अर्थ में कि इसमें इस कथा के पहले से चले आते प्रसंगों का अपने ढंग से संयोजन हुआ है। बाहरी तौर पर इस कथा का ढाँचा वही है, जो वाल्मीकि में मिलता है; लेकिन बाहरी तौर पर देखने पर यह बात *रामचरितमानस* के विषय में ही नहीं, एक बड़ी सीमा तक समस्त रामसाहित्य के विषय में सत्य है। इसलिए तुलसी यह कहते हैं :

मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई।
तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥

किन्तु *रामचरितमानस* का कोई भी सावधान पाठक, जो तुलसी-पूर्व रामकथा साहित्य से परिचित है, यह अनुभव कर सकता है कि कथानक की विभिन्न घटनाओं के विवरणों, क्रम-विधान और अभिप्रायों की दृष्टि से तुलसी की रामकथा परम्परा का अनुसरण मात्र नहीं है। तुलसी उसें अपनी परिकल्पना के अनुसार कहीं स्वीकार करते, कहीं छोड़ते और कहीं बदल देते हैं। किन्तु वे यह सब कथानक के परम्परागत ढाँचे के अन्तर्गत इतनी सहजता से करते हैं कि उनकी मौलिकता कोई विरोध या असहमति नहीं लगती।

रामकथा के सबसे बड़े विशेषज्ञ के रूप में फ़ा. बुल्के तुलसी की रामकथा की मौलिकता का बारम्बार उल्लेख करते हैं। इस सम्बन्ध में उनका अभिमत यह है कि "तुलसी उन विभिन्न कथाओं (वाल्मीकि, *अध्यात्म रामायण*, *महानाटक*, *प्रसन्न राघव* आदि) से प्रसंग चुनकर अपने रामचरित की रचना करते हैं—*मति अनुरूप रामगुन गावउँ* (1, 12, 9) और इस प्रकार उनकी रामकथा अपूर्व है :

"जेहिं यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरजु करै सुनि सोई॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी। नहिं आचरजु करहिं अस मानी॥

—*मानस* 1, 33, 3-4"

(*रामकथा और तुलसीदास*, पृ. 87)

इसलिए तुलसी की रामकथा में यदि परम्परा से भिन्नता मिलती है, तो इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि यह कोई एक कथा न होकर असंख्य कथाओं का समूह है : *रामकथा कै मिति जग नाहीं*।

फ़ा. बुल्के तुलसी की रामकथा के विशेष ढाँचे या रूप-विधान के तीन कारण बतलाते हैं। इसका पहला कारण यह है कि कवि इसके माध्यम से राम के परंब्रह्मत्व का निरूपण करना चाहता है :

एहि महं आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥

सगुण और निर्गुण की समस्या तुलसी के समय की एक ज्वलन्त समस्या थी। निर्गुण मत के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण यह कहा जाने लगा था कि ब्रह्म का स्वरूप

निर्गुण-निराकार हो सकता है और उसके अवतार की धारणा अतार्किक और निराधार है। इसके विपरीत, तुलसी यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है और राम निर्गुण और सगुण, दोनों हैं।

इसका दूसरा कारण यह है कि वे इसके माध्यम से भक्ति का निरूपण करना चाहते हैं और तीसरा कारण यह कि वे अपने समकालीन एवं पूर्ववर्ती रामसाहित्य में बढ़ती हुई शृंगारिकता से इसे पूर्णतः मुक्त कर मर्यादित और नैतिक स्वरूप देना चाहते हैं। न केवल संस्कृत और प्राकृत, वरन् "अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की रामकथाओं से *रामचरितमानस* की तुलना करने पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि तुलसी का काव्य प्राचीन काल से चली आती हुई लोकसंग्रही परम्परा का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि है।" (रामगाथा के सन्दर्भ में *रामचरितमानस* (पाण्डुलिपि), पृ. 24)

इससे यह संकेत मिलता है कि किस प्रकार तुलसी की रामकथा परम्परा के सर्वोत्तम का संरक्षण करने और उसे निरन्तरता प्रदान करनेवाली प्रतिनिधि रचना है, "नैतिक आदर्शों के चित्रण द्वारा लोकसंग्रह का भाव और भगवद्भक्ति, रामकथा परम्परा के इन दोनों तत्त्वों का अपूर्व समन्वय तुलसीदास ने अपने *रामचरितमानस* में प्रस्तुत किया है।" (*रामकथा और तुलसीदास*, पृ. 48)

रामकथा तुलसी को जिस रूप में उपलब्ध हुई थी, उसके दो महत्त्वपूर्ण पक्ष थे—आदर्शवाद और भक्ति। *रामचरितमानस* में दोनों विद्यमान हैं।

वाल्मीकि की रामकथा में, दो हज़ार वर्षों तक होते रहनेवाले परिवर्तनों और परिवर्द्धनों के बावजूद, उसका लोकसंग्रही और आदर्शवादी स्वभाव अक्षुण्ण रहा है। इसलिए *जैमिनीय अश्वमेध* में यह कहा गया है : रामचरितं सन्मनोवृत्तिप्रदं। (रामचरित सद्वृत्ति प्रदान करता है।) तुलसी भी अपनी कथा को विषय-विकार से मुक्त करनेवाली शुद्ध भगवद्भक्ति की कथा मानते हैं। उनके युग में सखी सम्प्रदाय के माध्यम से इस कथा में शृंगारिकता का समावेश होने लगा था और काव्य के नाम पर उपलब्ध ऐसी रचनाएँ लोकप्रिय हो गई थीं, जिनमें नायिकाओं के नखशिख सौन्दर्य और नायक-नायिकाओं के प्रेम-प्रसंगों का उत्तेजक वर्णन मिलता था। इसलिए तुलसी अपनी कथा के विषय में कहते हैं : *'इहां न कथा विषय रस नाना।'* इसलिए विषय-लोलुप लोग उनके *मानस* से दूर ही रहना चाहेंगे :

> *अतिखल जे विषई बग कागा।*
> *एहि सर निकट न जाहि अभागा॥* (1, 38, 2)

तुलसी, साहित्य में 'विषय-रस' (कामोत्तेजक शृंगारिकता) की ही खोज करनेवाले और उसकी अभिव्यक्ति को कवित्व की प्रमुख कसौटी माननेवाले काव्य रसिकों के प्रबल विरोधी थे। वह एक ऐसे कवित्व का स्वरूप-निर्माण कर रहे थे, जो जीवन के श्रेष्ठतर लक्ष्यों से प्रेरित था और अपने समय के विलासी अभिजात वर्ग की अभिरुचि

को महत्त्व न देकर 'सब कर हित' (सबका कल्याण) की चिन्ता से युक्त था। इसलिए रामकथा के जिन प्रसंगों को आधार बनाकर शृंगार रस की बहुरंगी अभिव्यक्ति की जा सकती थी, *मानस* में उनका उल्लेख या तो सांकेतिक रूप में कर दिया गया है या उनके शृंगार को अत्यन्त परिष्कृत कर और उदात्त रूप प्रदान किया गया है। सांकेतिक रूप में शृंगारिक प्रसंग की अभिव्यक्ति का उदाहरण बालकाण्ड का शिव-पार्वती विवाह है :

मातुपिता जग संभु भवानी। तेहि सृंगार न कहिएं बखानी॥

शृंगार के उदात्तीकरण का उदाहरण पुष्पवाटिका प्रसंग है।

अतः फ़ा. बुल्के बारम्बार अपने प्रिय कवि की रामकथा के नैतिक स्वरूप की चर्चा करते हैं। अपने एक निबन्ध "रामगाथा के सन्दर्भ में *रामचरितमानस* " (पाण्डुलिपि) में वे कहते हैं, "नैतिकता उनके द्वारा प्रतिपादित भक्ति का आधार है। तुलसीदास अपने पाठकों को निरन्तर इसका स्मरण दिलाते हैं।" अनुसूया सीता से कहती हैं :

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहि प्रानप्रिय राम कहिउं कथा संसार हित॥ (अरण्यकांड)

वास्तव में तुलसी स्वयं पातिव्रत्य आदि की नैतिक शिक्षा देने के लिए रामकथा प्रस्तुत कर रहे हैं और वह अनुसूया के ये शब्द अपने विषय में दोहरा सकते हैं–"*कहिउं कथा संसार हित।*" (पृ. 24)

तुलसी की भक्ति

मानस में रामकथा के नैतिक और लोकसंग्रही चरित्र की अभिव्यक्ति इस रूप में हुई है कि यह रामकथा-साहित्य के सन्दर्भ में अपने ढंग की अकेली और अद्वितीय कृति बन गई है; किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, इसकी दूसरी विशेषता इसकी भक्ति है। फ़ा. बुल्के इस भक्ति पर तुलसी-सम्बन्धी अपने लेखन में बारम्बार विचार करते हैं। वे इस विषय पर जो कुछ कहते हैं, उसकी एक ईसाई पृष्ठभूमि भी है, जो जाने-अनजाने उनके तुलसी-सम्बन्धी समस्त चिन्तन को प्रभावित करती है। इसलिए इस प्रसंग पर विचार करते समय यथावसर इस पृष्ठभूमि का उल्लेख भी आवश्यक है।

फ़ा. बुल्के के अनुसार, ईसाई धर्म का सार प्रेम है–ईश्वर से प्रेम और उसकी सृष्टि से प्रेम। ईश्वर से प्रेम का अर्थ उसकी भक्ति है–उसके प्रति पूर्ण समर्पण और अपनी इच्छा का नहीं, बल्कि उसकी इच्छा का पालन। उसकी सृष्टि से प्रेम का अर्थ परहित है अर्थात् समस्त मानवता के प्रति करुणा और बिना किसी भेदभाव के सभी मनुष्यों की सेवा।

इस विचारधारा से तुलसी की भक्ति का साम्य इतना अधिक है कि फ़ा. बुल्के को यह केवल हिन्दुओं के लिए नहीं, बल्कि सभी धर्मों के लिए समान रूप से सार्थक प्रतीत होती है, "यह भक्ति हर धर्म और हर साधक पर लागू है, इसलिए हर ईसाई के लिए भी प्रेरणादायक है।" (आलोचना 75, पृ. 14)

तुलसी की भक्ति पर अपने विचार-क्रम में वह इसकी निम्नलिखित विशेषताओं की चर्चा करते हैं।

तुलसी के अनुसार भक्ति की पहली विशेषता यह है कि यह ईश्वर तक पहुँचने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। यहाँ उनका पूर्ववर्ती रामकथा-परम्परा से भेद हो जाता है। यह बात *अध्यात्म रामायण* से उनके भक्ति-सम्बन्धी दृष्टिकोण की तुलना करने पर और भी स्पष्ट हो जाती है। यह सही है कि उन पर *अध्यात्म रामायण* का गहरा प्रभाव पड़ा है, लेकिन "तुलसी कहीं भी *अध्यात्म रामायण* का अन्धानुकरण नहीं करते।" (रामकाव्य की लोकसंग्रही परम्परा और रामचरितमानस : *मन्थन*, पृ. 108) *अध्यात्म रामायण* में भक्ति को ज्ञान का साधन माना गया है। मोक्ष ज्ञान द्वारा ही सम्भव है और ज्ञान की अनिवार्य शर्त संन्यास या वैराग्य है; लेकिन, इसके ठीक विपरीत, तुलसी यह कहते हैं कि ज्ञान-मार्ग अत्यन्त कठिन है। यह मार्ग मनुष्य के चित्त को भीतर से बदलने में असमर्थ है। सबसे श्रेष्ठ है भक्ति, क्योंकि यह मनुष्य को भीतर से धोकर पवित्र करती और बड़ी सरलता से प्रभु तक ले जाती है :

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभि अन्तर मल कबहुं न जाई॥

तुलसी इसे सर्व सुलभ मार्ग मानते हैं : *सरब सुलभ यह मारग भाई।* विनय पत्रिका में वह इसे राजडगर या राजमार्ग कहते हैं :

गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राजडगरो सो।

यह राजमार्ग इसलिए है कि "इस पर चलने का अधिकार सब मनुष्यों को है।" (*रामकथा और तुलसीदास*, पृ. 80) किन्तु यह राजमार्ग इसलिए भी है कि "भगवान् के पास पहुँचने के लिए न तो संन्यास, न जटिल कर्मकाण्ड, न घोर तपस्या, न रहस्यमय साधना और न दर्शन का प्रकाण्ड ज्ञान आवश्यक है।" (भगवद्-भक्ति-सम्बन्धी तुलसी का विश्वजनीन सन्देश (पाण्डुलिपि), पृ. 5)

फ़ा. बुल्के तुलसी की भक्ति की जिन अन्य विशेषताओं पर बल देते हैं, वे हैं—नैतिकता और परहित।

तुलसी के अनुसार भक्ति के क्षेत्र में शृंगारिकता का कोई स्थान नहीं है। उनके युग में 'रसिक सम्प्रदाय' के नाम से रामभक्ति के क्षेत्र में शृंगारिकता का प्रवेश हो चुका था। वे इसके भारी विरोधी थे और मर्यादा को भक्ति का आवश्यक आधार मानते थे। उनके अनुसार, भक्ति का सामाजिक कर्तव्यों के पालन और सदाचरण से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। उनके *रामचरितमानस* और अन्य रचनाओं में इसका जो रूप

व्यक्त हुआ है, उससे स्पष्ट है कि "सन्त गोस्वामी तुलसीदास ने भक्ति का जो सिक्का चलाया, उसके दो पहलू हैं–एक भगवद्भक्ति और दूसरा नैतिकता।" (*रामकथा और तुलसीदास*, पृ. 75)

किन्तु फ़ा. बुल्के को तुलसी की भक्ति की जो अन्य विशेषता विशेष रूप से आकर्षित करती है, वह परहित है। यह नहीं कहा जा सकता कि वे तुलसी की इस विशेषता को लक्षित करनेवाले प्रथम व्यक्ति हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पहली बार तुलसी के परहित की चर्चा 'लोकमंगल' के रूप में की है। लेकिन फ़ा. बुल्के द्वारा तुलसी के सन्दर्भ में परहित के उल्लेख का सम्बन्ध उनकी धर्मशास्त्रीय पृष्ठभूमि से भी है। ईसाई धर्म ईश्वर की पूजा से भी अधिक महत्त्व परहित या मनुष्य की सेवा को देता है। फ़ा. बुल्के यह भी कहते हैं कि परहित पूर्ववर्ती रामसाहित्य से *मानस* का एक मौलिक भेद सूचित करता है। *अध्यात्म रामायण* में एक स्वतन्त्र अवधारणा के रूप में परहित की कहीं भी चर्चा नहीं है। इसकी सन्तों की लक्षण-सूची में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसका सन्त या भक्त संसार के प्रति उदासीन या विरक्त व्यक्ति है, जबकि परहित तुलसी के विश्व दर्शन का एक प्रमुख तत्त्व है। इस बात का निर्देश और विवेचन करने के कारण फ़ा. बुल्के तुलसी-साहित्य के शायद पहले समीक्षक हैं, जो परम्परा विशेष की पृष्ठभूमि में महाकवि की इस मौलिकता का उल्लेख करते हैं। यही नहीं, वे तुलसी-साहित्य में 'परहित' के प्रयोग की बारम्बारता का उल्लेख करनेवाले पहले समीक्षक हैं :

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुं जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
(*मानस* 3, 9)

गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु-रहित परहित-रस लीला॥(3, 46, 7)

संत सहहिं दुख परहित लागी। (*मानस* 7, 121, 15)

पर-उपकार सार-सृति को। (*विनयपत्रिका*, 202)

तुलसी परहित को मानव शरीर का सबसे बड़ा फल मानते हैं और उसी सगुणोपासक को सबसे सच्चा धार्मिक मानते हैं, जिसमें परहित का भाव हो और जो नैतिक हो :

सप्तधातु-निरमित तनु करिय विचार।
तेहि तनु के एक फल, कीजै पर-उपकार॥ (2, 3, 8)

सगुन उपासक परहित-निरत नीति दृढ़ नेम। (5, 47, 48)

फ़ा. बुल्के के अनुसार, तुलसी का प्रभु-भक्त न केवल नैतिक आचरण करनेवाला और 'परहित-निरत' व्यक्ति है, बल्कि वह प्रपत्ति और आत्मदैन्य भावापन्न व्यक्ति भी है। वह पूरी श्रद्धा से भगवान् का विधान स्वीकार करता है और भरत की तरह यह

मानता है कि प्रभु की आज्ञा के पालन से बढ़कर उसकी और कोई सेवा नहीं है : *अग्या सम न सुसाहिब सेवा।* (2, 301, 4) वह निरन्तर अपनी अपूर्णता का अनुभव करता रहता है और उसमें यह चेतना बराबर बनी रहती है कि वह पातकी या पापी है और प्रभु ही उसे अपनी कृपा से पवित्र कर सकते हैं : *हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप-पुंजहारी।* (*विनय पत्रिका*)

ईश्वर के विधान के प्रति पूर्ण समर्पण और पाप-बोध--तुलसी की भक्ति की ये विशेषताएँ भी फ़ा. बुल्के को ईसाई धर्म के सन्दर्भ में आकर्षित करती हैं। भरत की उक्ति '*अग्या सम न सुसाहिब सेवा*' पर उनकी टिप्पणी है :

> "यह साधना का रहस्य है। पहुँचे हुए साधक अनुभव करते हैं कि वे जो चाहते हैं, प्रभु उनके लिए वही करने को तैयार हैं। किन्तु वे भरत-जैसी प्रतिक्रिया प्रकट कर कहते हैं, "हे प्रभु, तेरी इच्छा पूरी हो।"
>
> (*रामकथा और तुलसीदास,* पृ. 71)

साधना का यह रहस्य हिन्दू और ईसाई, दोनों धर्मसाधनाओं को जोड़ता है। भरत का यह वाक्य प्रभु ईसा के इस वाक्य का स्मरण दिलाता है, "फिर भी मेरी नहीं, बल्कि तेरी ही इच्छा पूरी हो।" (*सन्त मारकुस,* 14, 36)

पाप की अवधारणा ईसाई धर्म की आधारभूत विशेषताओं में है। इसके प्रमुख विश्वासों में एक विश्वास यह है कि मनुष्य पापी है। उसका यह पाप आदम के मूल पाप की विरासत है, जिससे मानव जाति को मुक्त करने के लिए ईसा का अवतार हुआ है। तुलसी में विनम्रता और दीनता के साथ-साथ दोषमयता या पापमयता का बोध भी मिलता है। फ़ा. बुल्के को उनके द्वारा अपनी दोषमयता का उल्लेख *बाइबिल* के प्राचीन विधान (*ओल्ड टेस्टामेंट*) में उपलब्ध दाऊद (डेविड) के एक भजन का स्मरण दिलाता है :

> "वह (तुलसी) अपने दोषों को नहीं छिपाते और बराबर अपनी हीनता प्रकट करते हैं। वह *विनयपत्रिका* में कहते हैं--"*मैं निज दोष कछू नहीं गोयो।*" उनकी यह पंक्ति पढ़कर मुझे दाऊद के स्तोत्र याद आते हैं, मुख्यतः पचासवाँ स्तोत्र, जिसमें वह कहते हैं :
>
> *"मैं अपना अपराध स्वीकार करता हूँ,*
> *मेरा पाप निरन्तर मेरे सामने है।*
> *मैंने तेरे विरुद्ध पाप किया है,*
> *मैंने वही किया, जो तेरी दृष्टि में बुरा है;*
> *इसलिए तेरा निर्णय सही*
> *और तेरी दण्डाज्ञा न्यायसंगत है।"* (*आलोचना* 75; पृ. 13)

गोस्वामी तुलसीदास की भक्ति सगुण भक्ति है। तुलसी निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं मानते। निर्गुण-निराकार ही "भगत प्रेमबस सगुण हो जाता है :

"सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ॥
अगुण अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमबस सगुण सो होई ॥"

(*मानस* 1, 181, 1-2)

"भगवान् का यह प्रेम सबों की समझ में नहीं आ सकता।" (*रामकथा और तुलसीदास,* पृ. 91)

वस्तुतः अवतारवाद का रहस्य और सगुण भक्ति का औचित्य ऐसी समस्याएँ हैं, जो तुलसी की तरह हर ईसाई के सामने उपस्थित होती हैं। तुलसी यह विश्वास करते हैं कि निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही राम के रूप में शरीरधारी हो गया है। ईसाई भी ईसा को परमसत्ता का शरीरधारी रूप मानते हैं, "शब्द ने शरीर धारण कर हमाने बीच निवास किया।" (सन्त योहन : 1, 14) ईसाई धर्मशास्त्रियों की तरह तुलसी भी निर्गुण की अपेक्षा सगुण को अधिक मानते हैं : *निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोई।* (*मानस* 7, 73) इस सम्बन्ध में तुलसी का समाधान भी वही है, जो ईसाई धर्मशास्त्र का है अर्थात् यह कि इस रहस्य को केवल बुद्धि और तर्क-वितर्क द्वारा समझना सम्भव नहीं है।

मानस की लोकप्रियता के कारण

एक ओर जहाँ *मानस* का कई कोनों और अनेक वैचारिक आधारों पर विरोध होता रहा है, वहाँ दूसरी ओर इसकी लोकप्रियता न केवल बनी हुई है, बल्कि बढ़ी है। यह अपने आप में एक जटिल परिघटना है, जिसकी व्याख्या ज़रूरी है। फ़ा. कामिल बुल्के से पहले भी इस पर विचार हुआ है; किन्तु उनके द्वारा प्रस्तुत इसकी व्याख्या का एक ख़ास महत्त्व है। यह एक भिन्न सांस्कृतिक-धार्मिक पृष्ठभूमि के व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत व्याख्या है, जो इसकी पूर्ववर्ती और समकालीन परम्परा के प्रत्यक्ष-परोक्ष समर्थन और विरोध पर आधारित होने के बावजूद, उसे एक नया आयाम देती है। यह बात *मानस* की प्रासंगिकता-सम्बन्धी उनके तर्कों से और भी स्पष्ट हो जाती है।

फ़ा. बुल्के *मानस* की लोकप्रियता का मूल कारण स्वयं रामकथा में सन्निहित मानते हैं, "रामकथा मात्र में मानव हृदय को द्रवित करने का जो सामर्थ्य है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।" ('रामकथा और तुलसी', *मन्थन,* पृ. 95) इस सामर्थ्य की पहचान सबसे पहले वाल्मीकि में मिलती है। इसके प्रसंगों की मार्मिकता का उन्होंने ऐसा उद्घाटन किया और उन्हें ऐसी समर्थ अभिव्यक्ति दी कि इस पर आधारित उनका काव्य बाद के युगों में स्थायी आकर्षण का केन्द्र और एक विस्तृत साहित्य-परम्परा का

स्रोत बन गया। तुलसी की विशेषता यह है कि वे रामकथा की मार्मिकता का अपने काव्य में नए ढंग से साक्षात्कार और पुनः सृजन करते हैं।

इस प्रकार, *मानस* की लोकप्रियता का दूसरा कारण स्वयं तुलसी का कवित्व है, "असंख्य रामकथा-सम्बन्धी रचनाओं में से *रामचरितमानस* को ही इतनी अद्वितीय लोकप्रियता शताब्दियों तक प्राप्त हुई, इसका प्रधान कारण तुलसी की सरल स्वाभाविक काव्यकला है।" (वही, पृ. 96) वह तुलसी की 'इस सरल स्वाभाविक काव्यकला' की सरलता की व्याख्या करते हुए यह कहते हैं कि उनकी कविता की वाक्य-संरचना अपने युग के गद्य से भी अधिक स्पष्ट और बोधगम्य है। तुलसी की स्वाभाविकता यह है कि किस परिस्थिति में मनुष्य के मन में कैसे मनोभाव उत्पन्न होते हैं और चरित्र-भेद से पात्र एक ही परिस्थिति में कैसा अनुभव करते हैं, वे इसका बड़ा प्रामाणिक और स्वाभाविक चित्रण करते हैं।

वे *मानस* की लोकप्रियता का एक बड़ा कारण यह मानते हैं कि यह जनभाषा का काव्य है। वे तुलसी को 'जनकवि' कहते हैं। तुलसी को 'जनकवि' कहने का अभिप्राय यह है कि वे अपने युग की लोकभाषा या जनभाषा में 'सब कर हित' के लिए लिखते हैं। वे संस्कृत-विरोधी नहीं हैं, लेकिन वे इसका आग्रह भी नहीं पालते हैं। वे यह अनुभव करते हैं कि "संस्कृत नहीं, बल्कि 'भाषा की भनिति' जनसाधारण के काम की चीज़" है। (तुलसी का लोकानुराग (पाण्डुलिपि), पृ. 6)। वे *मानस* के वालकाण्ड में 'भाषा भनिति' के विषय में जो कुछ कहते हैं, उससे यह ध्वनित होता है कि संस्कृत और जनभाषा का द्वन्द्व उनके युग का एक बड़ा द्वन्द्व था। जनभाषा के कवि को वह सम्मान नहीं दिया जाता था, जो संस्कृत के कवि को। "*भाषा भनिति मोर मति थोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी।*" का सीधा अर्थ यह है कि 'भाषा भनिति', 'हँसिबे जोग' है, लेकिन तुलसी इस हँसी या उपहास की चिन्ता नहीं करते। इसका कारण यह है कि *मानस* की रचना का उद्देश्य 'सब कर हित' है, जो संस्कृत के माध्यम से सम्भव नहीं था। जब वह *'सरल कबित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान'* कहते हैं, तो उनका अभिप्राय यह है कि सुजान या काव्यविवेकी कविता की भाषा की नहीं, बल्कि कविता की गुणवत्ता की चिन्ता करते हैं। वे इस बात को महत्त्व नहीं देते कि कविता संस्कृत की है या जनभाषा की। उनकी दृष्टि में महत्त्व ऐसे कवित्व का है, जो सरल या लोकसम्प्रेष्य हो और जिसका आलम्बन विमलकीर्ति नायक हो। जनकवि तुलसी की जनभाषा कविता ऐसी ही है। तुलसी कविता की भाषा की अपेक्षा उसकी संवेदना या भाव को अधिक महत्त्व देते हैं। फ़ा. बुल्के अपनी इस धारणा के साक्ष्य के रूप में उनका यह सुपरिचित दोहा उद्धृत करते हैं :

का भाषा का संस्कृत भाव चाहिए साँच।
काम जु आवे कामरी का लै करिए कमाँच॥

"कीमती दुशाला लेकर क्या करोगे, यदि कम्बल से काम चल जाता है?"

(वही, पृ. 6)

मानस की लोकप्रियता का तीसरा कारण इसका भक्तिमार्ग है, "तुलसी द्वारा प्रतिपादित भक्तिमार्ग *रामचरितमानस* की लोकप्रियता का तीसरा कारण है।" (*रामकथा और तुलसीदास*, पृ. 51)

तुलसी की भक्ति के विषय में उल्लिखित उनके विचारों से भी यह स्पष्ट हो जाता है। अतः यहाँ इसका संकेत ही काफ़ी है।

मानस की प्रासंगिकता

मानस की प्रासंगिकता-सम्बन्धी तर्क-वितर्कों का इतिहास एक शताब्दी से भी अधिक पुराना है। इस विषय पर तर्क-वितर्क का कारण आधुनिक भारत का वह सामाजिक-वैचारिक परिवेश है, जो तुलसी के सामाजिक-वैचारिक परिवेश से भिन्न हो गया है। इसलिए *मानस* के कथानक और विचारधारा के कई प्रसंग आज असंगत और आलोच्य प्रतीत होते हैं। रामकथा और तुलसी साहित्य के विशेषज्ञ के रूप में स्वयं फ़ा. बुल्के को तुलसी के विरोध में उठायी जानेवाली आपत्तियों का सामना करना पड़ता था। डॉ. बुल्के के अनुसार, ये 'आपत्तियाँ' विशेष रूप से पौराणिक कथाओं की ऐतिहासिकता, तुलसी द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म, राजतन्त्र और नारी निन्दा से सम्बन्ध रखती हैं।" (*रामकथा और तुलसीदास*, पृ. 61) वे इन आपत्तियों पर विचार की पृष्ठभूमि के रूप में यह कहते हैं कि अन्य रचनाकारों की तरह तुलसी भी अपने युग से प्रभावित थे, लेकिन उनकी मुख्य विशेषता यह है कि वे अपने समय का अतिक्रमण करते हैं। जैसे, यह सही है कि "वह वर्णाश्रम को आदर्श सामाजिक व्यवस्था समझते थे" (वही, पृ. 62), लेकिन "वह जाति-पाँति से ऊपर उठनेवालों को धन्य मानते हैं।" (*मानस* 2, 131, 5-6)। जिस युग की राजनीतिक व्यवस्था ही राजतान्त्रिक हो, उस युग के कवि से उसके विरोध या विकल्प-निरूपण की अपेक्षा अनुचित है। डॉ. बुल्के यह स्वीकार करते हैं कि तुलसी में नारी-निन्दा की उक्तियाँ मौजूद हैं। वह उन तुलसी-भक्तों से सहमत नहीं हैं, जो इन उक्तियों का "अनोखा अर्थ लगाकर तुलसी को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न" (वही, 63) करते हैं। इस प्रसंग में उनका विचार यह है कि नारी-निन्दा-सम्बन्धी उक्तियाँ तुलसी की मौलिक उद्भावना न होकर संस्कृत के नीति-ग्रन्थों के अनुवाद हैं। लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि इस प्रकार की उक्तियाँ महाकवि की व्यक्तिगत अनुदारता को सूचित नहीं करतीं। ये तो सदियों से चली आती हुई नारी-सम्बन्धी विचारधारा का प्रतिफलन भर हैं। डॉ. बुल्के कहते हैं, "यदि तुलसी को दोष देना है, तो समस्त भारतीय परम्परा को दोषी ठहराना चाहिए और समस्त विश्व साहित्य को भी, क्योंकि दुनिया भर के

साहित्य में मातृ-जाति-विषयक निन्दात्मक उक्तियाँ पायी जाती हैं।" (वही, पृ. 63-64)

वस्तुतः तुलसी की चिरकालिक प्रासंगिकता के सबसे बड़े कारण हैं—उनकी भगवद्भक्ति और कवित्व। उनकी भगवद्भक्ति वर्णाश्रम धर्म तक सीमित न होकर विश्वजनीन है। नास्तिकों के लिए उनकी भगवद्भक्ति की कोई उपादेयता नहीं है। लेकिन आज भी विश्व के अधिकांश लोग आस्तिक हैं और उनके लिए इसका महत्त्व आज तक अक्षुण्ण है। अब समय आ गया है, जब हम "उनके काव्य के पौराणिक तत्त्व और भक्ति-सम्बन्धी सन्देश, दोनों को अलग-अलग कर देखें।" (*आलोचना* 75, पृ. 13-14) उनके काव्य का आधारभूत ढाँचा ही पौराणिक है, क्योंकि उनके युग के धार्मिक विश्वास और सामाजिक व्यवस्था, दोनों परम्परागत है। लेकिन उनकी युगीन सीमाएँ उनके मूल्यांकन की एकमात्र कसौटी नहीं हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, वह किसी को छोटा और किसी को बड़ा माननेवाले अपने वर्णाश्रमवाद का भी अतिक्रमण करते हैं। वह मानव मात्र को समान निरूपित करनेवाले और जातिगत भेदभाव से ऊपर उठकर प्रत्येक मनुष्य की सेवा को परमधर्म माननेवाले 'परहित' को अपनी विचार-व्यवस्था में जो महत्त्व देते हैं, वह इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। उनके इस मानव समतावाद का स्रोत उनकी भगवद्भक्ति ही है। लेकिन इसके समान्तर उनके *मानस* की चिर प्रासंगिकता का रहस्य उनका कालजयी कवित्व है। इस प्रकार, समग्र दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि *मानस* के "महत्त्व के दो पक्ष हैं—तुलसी भक्त और कवि, दोनों हैं। उन दोनों को अलग कर देखना तुलसी के प्रति अन्याय होगा।" (*आलोचना* 75, पृ. 19)

□

5

बाइबिल की हिन्दी अनुवाद-परम्परा और फ़ादर बुल्के की हिन्दी *बाइबिल*

फ़ा. कामिल बुल्के की हिन्दी *बाइबिल* उनके कृतित्व और अनुवाद विज्ञान की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियों में है। यह हिन्दी की *बाइबिल*-अनुवाद परम्परा का शीर्ष है। किन्तु उनके कृतित्व के एतत्सम्बन्धी वैशिष्ट्य की सही समझ तभी सम्भव है, जब पृष्ठभूमि के रूप में स्वयं *बाइबिल* के स्वरूप और इसके हिन्दी अनुवाद की बुल्के-पूर्व परम्परा की एक संक्षिप्त रूपरेखा हमारे सामने हो।

बाइबिल

ईसाइयों के सबसे पवित्र ग्रन्थ *बाइबिल* के दो भाग हैं—पुराना विधान (*ओल्ड टेस्टामेण्ट*) और नया विधान (न्यू टेस्टामेण्ट)। इतिहास की दृष्टि से पुराना विधान यहूदियों का धर्मग्रन्थ है और नया विधान, ईसाइयों का। किन्तु ईसाई दोनों को समान रूप से पवित्र मानते हैं, क्योंकि पुराने विधान में बारम्बार जिस आनेवाले नबी का उल्लेख मिलता है, वह, उनके अनुसार, ईसा मसीह हैं। अतः वह उसे अपने धर्म की प्रामाणिकता के साक्ष्य के रूप में देखते हैं और दोनों विधानों को न केवल ऐतिहासिक, बल्कि वैचारिक दृष्टि से भी परस्पर सम्बद्ध मानते हैं।

पुराना विधान का सबसे प्राचीन भाग पंचग्रन्थ है, जिसका रचनाकाल बारहवीं शताब्दी ई.पू. माना जाता है। इसके बाद उसमें नए-नए ग्रन्थों का समावेश होता गया और इनकी संख्या बढ़कर चौबीस हो गई। आज इन ग्रन्थों का पुनर्विभाजन किया जाने लगा है, जिससे इनकी संख्या 38 हो गई है। यहूदी और प्रोटेस्टेण्ट *बाइबिल* में पुराना विधान की यही संख्या मान्य है, किन्तु प्रचलित कैथोलिक पुराना विधान में सम्मिलित ग्रन्थ संख्या 45 है। इसका कारण यह है कि *बाइबिल* के प्रथम ग्रीक अनुवाद में, जिसे कैथोलिक अपना प्रामाणिक धर्मग्रन्थ मानते हैं, टोबीत, यूदीत, प्रज्ञा-ग्रन्थ आदि सात अतिरिक्त रचनाएँ सम्मिलित हैं। प्रोटेस्टेण्ट और यहूदी, दोनों इन रचनाओं को प्रामाणिक नहीं मानते हैं।

नया विधान के ग्रन्थों की संख्या 27 है। ये ग्रन्थ कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट, दोनों सम्प्रदायों के एक-जैसे मान्य ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों को चार भागों में विभक्त किया

जाता है—सुसमाचार, प्रेरित चरित, पत्र और प्रकाशना-ग्रन्थ। सुसमाचारों की संख्या 4 है, जो क्रमशः सन्त मत्ती (70 या 80 ई.) सन्त मारकुस (65 ई.) सन्त लूकस (70 या 80 ई.) और सन्त योहन (95 ई.) के हैं। सुसमाचारों में ईसा मसीह की जीवनी, कार्यकलाप और उपदेशों का वर्णन मिलता है। ईसा के प्रमुख शिष्यों के कार्यकलाप का वर्णन प्रेरित चरित है, जिसे सन्त लूकस की रचना माना जाता है। पत्र-भाग में मुख्यतः सन्त पौलुस के पत्र हैं, किन्तु इसमें सन्त याकूब, सन्त पेत्रुस, सन्त योहन और सन्त यूदस के पत्र भी मिलते हैं। कुल पत्रों की संख्या 21 है। प्रकाशन-ग्रन्थ के लेखक ने अपना नाम योहन बतलाया है। *बाइबिल* विद् इसे सुसमाचार के लेखक योहन से अभिन्न मानते हैं। इस ग्रन्थ में ईसा मसीह को ईश्वर की ओर से प्राप्त भविष्य में घटित होनेवाले दिव्य दर्शनों का उल्लेख हुआ है। उपर्युक्त सभी रचनाएँ तीसरी सदी ई. के प्रारम्भ से ही नया विधान की प्रामाणिक भाग मानी जाती हैं।

बाइबिल की रचना एक ही भाषा में नहीं हुई है। पुराना विधान (*ओल्ड टेस्टामेण्ट*) के अधिकतम भाग की भाषा प्राचीन हीब्रू या इब्रानी है। मूसा के पंचग्रन्थों की भाषा प्राचीन इब्रानी है और इसके ऐतिहासिक ग्रन्थों, काव्य ग्रन्थों और सूक्तिग्रन्थ की भाषा, परवर्ती और परिमार्जित हीब्रू। इसके शेष ग्रन्थ सामी परिवार की एक अन्य भाषा आरमयिक में है। ईसा-पूर्व छठी शताब्दी से यही इस्राएल की जनभाषा थी। स्वयं ईसा की भाषा यही थी; लेकिन नया विधान में सन्त मत्ती के सिवा किसी ने भी इसका प्रयोग नहीं किया है। उनके सुसमाचार के सिवा इसके अन्य ग्रन्थ ग्रीक में लिखे गए हैं—सन्त लूकस का सुसमाचार मानक ग्रीक और शेष ग्रन्थ कोइने या बोलचाल की ग्रीक में।

पुराना विधान के ग्रीक रूपान्तरण की परम्परा ईसवी सन् से पहले की है। यह परम्परा तीसरी शताब्दी ई. तक चलती रही। किन्तु चौथी शताब्दी ई. में सन्त जेरॉम ने समस्त *बाइबिल* का प्रामाणिक अनुवाद लैटिन में किया। यह अनुवाद वुल्गाता और सन्त जेरॉम की *बाइबिल* कहलाता है और समस्त ईसाई जगत् में सर्वमान्य और प्रतिष्ठित है।

इस विवरण से यह संकेत मिलता है कि मूल *बाइबिल* के अनुवाद के लिए चार प्राचीन भाषाओं—इब्रानी, अरमयिक, ग्रीक और लैटिन की प्रामाणिक जानकारी आवश्यक है। किन्तु हिन्दी में फ़ादर बुल्के के पूर्व किसी भी *बाइबिल* अनुवादक को न तो इतनी भाषाओं की जानकारी थी और न उसने इसकी कोई आवश्यकता समझी। एक-दो अनुवादकों को छोड़कर किसी ने इसके लैटिन पाठ के पूर्ण उपयोग की भी आवश्यकता नहीं समझी। वस्तुतः फ़ादर बुल्के के सिवा अन्य सभी अनुवादकों ने इसके अंग्रेज़ी अनुवाद को ही आधार बनाकर अपना अनुवाद प्रस्तुत किया। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उनके द्वारा तैयार ज़मीन पर ही फ़ा. बुल्के के लिए वह सब करना सम्भव हुआ, जिसके कारण उनका कृतित्व इतना बड़ा और महत्त्वपूर्ण

प्रतीत होता है। यह बात *बाइबिल* की हिन्दी अनुवाद-परम्परा की निम्नलिखित रूपरेखा से स्पष्ट हो जाती है।

बाइबिल की हिन्दी अनुवाद-परम्परा

पश्चिमी नवजागरण के समय से ही यूरोप की विभिन्न भाषाओं में *बाइबिल* का अनुवाद किया जाने लगा था। मार्टिन लूथर की जर्मन *बाइबिल* (1545 ई.) इसका सबसे पहला उदाहरण है। अंग्रेज़ी भाषा की *बाइबिल,* जो 'किंग जेम्स *बाइबिल*' के नाम से प्रसिद्ध है, ब्रिटेन के राजा जेम्स के राजत्वकाल में 1911 ई. में प्रकाशित हुई थी। बाद के अंग्रेज़ी अनुवादों में *न्यू इंग्लिश बाइबिल, न्यू अमेरिकन बाइबिल* और *रिवाइज़्ड स्टैण्डर्ड वर्सन* (आर. एस. वी.) विशेष प्रसिद्ध हैं, किन्तु इनमें *किंग जेम्स बाइबिल* आज भी सर्वाधिक लोकप्रिय है।

हिन्दी में *बाइबिल* के अनुवाद की परम्परा भी प्रायः तीन सौ वर्ष पुरानी है। ये अनुवाद दो प्रकार के हैं—आंशिक और पूर्ण। इसके प्रारम्भिक अनुवाद आंशिक अनुवाद हैं। इसकी अनुवाद-परम्परा के प्रवर्तक जॉन जोशुआ केटलर हैं, जो हिन्दी के प्रथम यूरोपीय वैयाकरण हैं। केटलर ने अपने व्याकरण 'हिन्दुस्तानी भाषा' (1698 ई.) में *न्यू टेस्टामेण्ट* की प्रसिद्ध दैनिक प्रार्थना "हे पिता!" का अनुवाद किया है। केटलर आगरा-निवासी थे। उनके परवर्ती हिन्दी वैयाकरण बेंजामिन शूल्ज़ हैदराबाद और कैसियानो बेलिगत्ती, पटना के निवासी थे। शूल्ज़ ने अपने *हिन्दुस्तानी व्याकरण* (1745 ई.) और बेलिगत्ती ने अपने *अल्फाबेतुम ब्रहानिकुल* (1771 ई.) में इस प्रार्थना का अलग-अलग अनुवाद दिया है। शूल्ज़ ने इस प्रार्थना के अतिरिक्त दाऊद के भजनों, लूकस, मारकुस और यूहन्ना (योहन) के सुसमाचारों आदि का भी अनुवाद किया है। रोमन लिपि में प्रकाशित केटलर और शूल्ज़ के अनुवादों की भाषा हिन्दी न होकर अरबी-फ़ारसी-मिश्रित खड़ीबोली है। केवल बेलिगती की भाषा हिन्दी है। इनके परवर्ती विलियम हण्टर ने 1805 ई. में चार सुसमाचारों का अनुवाद कलकत्ता से प्रकाशित किया। इस अनुवाद की भाषा भी अरबी-फ़ारसी-मिश्रित खड़ीबोली या उर्दू है।

बाइबिल की अनुवाद-परम्परा में विलियम केरी प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने 1811 ई. में 'नया नियम' (*न्यू टेस्टामेण्ट*) और 1818 ई. में समग्र *बाइबिल* का अनुवाद प्रकाशित किया। केरी के अनुवाद का झुकाव भी बोलचाल की सरल हिन्दी और संस्कृत की ओर न होकर अरबी-फ़ारसी शब्दावली की ओर है। यही स्थिति हेनरी मार्टिन (1817 ई.), बिशप अन्तुनीनुस पेज्जोनी (1830 ई.) और जॉन थॉमस थॉम्पसन (1837 ई.) की हिन्दी *बाइबिलों* की है। इस दृष्टि से विलियम बाउली-कृत मत्ती, मारकुस और लूक के सुसमाचारों (मंगल सुसमाचारों) का 1819 ई. का अनुवाद तथा जॉन चैम्बरलेन (1820 ई.) का अनुवाद, तत्सम शब्दों के तद्भवीकरण के बावजूद,

हिन्दी के जातीय रूप के अधिक निकट हैं। हेनरी मार्टिन के *बाइबिल*-अनुवाद की भाषा इतनी प्रवाहपूर्ण और आकर्षक समझी गई कि इसे अरबी-फ़ारसी मुक्त कर हिन्दी के जातीय स्वरूप के अनुरूप बनाने के अनेक प्रयत्न हुए। ये प्रयत्न मुख्यतः बनारस समिति (1837-1870 ई.) नामक *बाइबिल* अनुवाद-संस्था ने किए। इसके द्वारा मिर्ज़ापुर से प्रकाशित समग्र *बाइबिल* का अनुवाद (1870 ई.) विशेष रूप से प्रसिद्ध हुआ।

अब तक ईसाई धर्मप्रचारकों के सामने यह बात धीरे-धीरे स्पष्ट होती जा रही थी कि जनसामान्य के बीच *बाइबिल* के प्रचार के लिए अरबी-फ़ारसीबहुल खड़ीबोली या उर्दू के बदले संस्कृत की ओर झुकी हुई तद्भव-बहुल खड़ी बोली में इसका रूपान्तर आवश्यक है। बैपटिस्ट मिशनरी याट्स, ए. लेस्ली और जॉन पार्सन द्वारा प्रस्तुत *धर्म पुस्तक का अन्तभाग* (1848 ई.) और नार्दर्न इण्डिया *बाइबिल* सोसाइटी (आगरा) द्वारा प्रकाशित एफ़. ई. इनाइडर और जे. ओवन का *मुक्तिदाता प्रभु येसुमसीह का नया नियम* (1849 ई.) इसी बात के उदाहरण हैं। 'धर्म पुस्तक का अन्तभाग' का बाद में जॉन पार्सन ने पुनः संशोधन किया और नया विधान (*न्यू टेस्टामेण्ट*) का यह अनुवाद हिन्दी के प्रकृत स्वरूप के समीप आ गया। इस अनुवाद के कई संस्करण हुए। बाद में, 1869 ई. में, इसका संस्करण इलाहाबाद से छपा। इनाइडर और ओवन का उपर्युक्त *नया नियम*, जो विलियम बाउली पर आधारित है, 1860 ई. में प्रकाशित हुआ। बाद में सभी प्रोटेस्टेण्ट धर्मप्रचारकों ने यह अनुभव किया कि बैपटिस्ट मिशन का अनुवाद ही सर्वाधिक स्वीकार्य है। अतः यही अनुवाद लुधियाना से 1859 ई. में प्रकाशित हुआ। *बाइबिल* के परवर्ती अनुवादों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नया विधान का यही हिन्दी अनुवाद थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ बीसवीं शताब्दी के प्रायः मध्य तक चलता रहा है। इसका पूरक प्रयत्न अर्थात् पुराना विधान (*ओल्ड टेस्टामेण्ट*) का अनुवाद विलियम हूपर, एच. एस. केलॉग और जे. ए. लैम्बर्ट ने किया, जो 1895 ई. में प्रकाशित हुआ। यह अनुवाद अब तक प्रचलित है। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध अर्थात् 1961 ई. में रेव. येसुदास तिवारी (सेरामपुर) की अध्यक्षता में देव. पी. जॉन आदि विद्वानों द्वारा प्रस्तुत *नया नियम* के नाम से नया विधान का अनुवाद प्रकाशित हुआ और पुनः रेव. एस. पी. दत्त और रेव. जे. एच. आनन्द द्वारा प्रस्तुत *बाइबिल* के इसी भाग का नया अनुवाद 1971 ई. में छपा। रेव. येसुदास तिवारी का अनुवाद बहुत संस्कृतनिष्ठ है और यही बात बहुत-कुछ रेव. दत्त और रेव. आनन्द के अनुवाद के विषय में कही जा सकती है।

भारतीय ईसाई समाज का एक महत्त्वपूर्ण भाग रोमन कैथोलिकों का है। पहले रोमन कैथोलिक चर्च में प्रधानता लैटिन *बाइबिल* की थी, किन्तु इसके समान्तर *बाइबिल* का पाठ भारतीय भाषाओं में भी होता था। इस दृष्टि से *बाइबिल* के आंशिक अनुवाद की परम्परा कैथोलिक धर्मसंघ में भी बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही मिलने

लगती है, किन्तु समग्र अनुवाद के प्रयत्न इसके उत्तरार्द्ध में ही दिखाई देते हैं। इस दिशा में पहला कार्य फ़ादर आर. पी. साह का *नया व्यवस्थान* (पटना, 1958 ई.) है। फ़ादर एस. एन. वाल्द की अध्यक्षता में गठित समिति ने, हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वानों की सहायता से, इसके प्राचीन व्यवस्थान का अनुवाद किया। फ़ा. वाल्द की यह *बाइबिल धर्मग्रन्थ* के नाम से 1965 ई. में छपी। इस पुस्तक में फ़ा. साह का *नया व्यवस्थान* भी सम्मिलित है। बाद में *पवित्र बाइबिल* (1986 ई.) के नाम से प्रकाशित इसके संस्करण में फ़ा. साह के *नया व्यवस्थान* के स्थान पर फ़ा. कामिल बुल्के के 'नया विधान' को सम्मिलित कर इसके पूर्वार्द्ध 'प्राचीन व्यवस्थान' का नाम फ़ा. बुल्के के अनुसार बदलकर 'पुराना विधान' कर दिया गया। वस्तुतः इसका यह 'पुराना विधान' इसका 'पुराना व्यवस्थान' नहीं है, क्योंकि इसका अधिकतम भाग *ओल्ड टेस्टामेण्ट* का फ़ा. बुल्के द्वारा किया गया नया अनुवाद है।

फ़ा. बुल्के का *बाइबिल*-अनुवाद

फ़ादर कामिल बुल्के *बाइबिल* के प्रचलित हिन्दी अनुवादों से सन्तुष्ट नहीं थे। हिन्दी सीखते ही उन्होंने यह अनुभव किया कि इन अनुवादों की भाषा हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप न होकर कृत्रिम, उबाऊ और बहुत सारे स्थलों पर दुर्बोध है। संसार के बहुत-से देशों, मुख्यतः यूरोपीय देशों में *बाइबिल,* अनूदित रचना होने के बावजूद, न केवल उनकी पहली साहित्यिक कृति है, वरन् सरल-स्वाभाविक और सामासिक भाषा का आदर्श भी। *बाइबिल* के हिन्दी रूपान्तरों में भाषा की वह स्वाभाविकता और सम्प्रेषणीयता नहीं थी, जो किसी पुस्तक को, एक पुस्तक के रूप में, पठनीय और रोचक बनाती है। स्वयं फ़ादर बुल्के के शब्दों में :

> "अब तक हिन्दी में *बाइबिल* के कई अनुवाद छप चुके हैं। आज भी छप रहे हैं। लेकिन मैंने इसका अनुवाद करने का निश्चय बहुत पहले कर लिया था, क्योंकि इसके जो अनुवाद मेरे सामने आए, वे हिन्दी मुहावरे के अनुसार नहीं किए गए थे। उनकी भाषा इस प्रकार की थी कि उन्हें पढ़कर ईसाई धर्म के प्रति वितृष्णा भी उत्पन्न हो सकती थी।" (*आलोचना* 75 : पृ. 15)

रामकथा : उत्पत्ति और विकास तथा *अंग्रेज़ी-हिन्दी कोष* की तरह 'नया विधान' (*न्यू टेस्टामेण्ट*) और 'पुराना विधान' (*ओल्ड टेस्टामेण्ट*) का अनुवाद भी फ़ा. बुल्के के कृतित्व का एक शिखर है। इस शिखर की यात्रा कितनी दुष्कर रही होगी, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इसके आरोहण में उन्हें चालीस वर्ष लग गए। उन्होंने *बाइबिल* के अनुवाद के प्रथम प्रयोग के रूप में 1942 ई. में *मुक्तिदाता* के नाम से स्वयं *द सेवियर* का रूपान्तर किया था। *द सेवियर* चार सुसमाचारों का समेकित रूप है। वे *मुक्तिदाता* का संशोधन बारम्बार करते रहे जो

इसके परवर्ती संस्करणों के शीर्षकों से भी प्रमाणित होता है : द्वि. संशोधित संस्करण, 1950 ई., तृतीय पुनर्संशोधित संस्करण, 1956 ई. और चतुर्थ पूर्णतया संशोधित संस्करण, 1967 ई.। *द सेवियर* की तरह *मुक्तिदाता* भी लोकप्रिय हुई और इसकी एक लाख से अधिक प्रतियाँ बिकीं।

बाइबिल के अनुवाद की कठिनाई केवल यह नहीं है कि यह हिन्दी से बहुत भिन्न भाषाओं में निबद्ध रचना है, बल्कि यह भी कि इसका विकास एक बहुत भिन्न सांस्कृतिक और वैचारिक परम्परा में हुआ है। इस परम्परा की अभिव्यक्ति एक विशिष्ट शब्दावली में हुई है, जिसका पर्याय-निर्धारण अनुवादकों के लिए चुनौती बन जाता है। फ़ा. बुल्के ने इस समस्या के समाधान की दिशा में एक पहल के रूप में ही *ए टेक्निकल इंगलिश हिन्दी ग्लॉसरी* (1955 ई.) तैयार की थी।

उन्होंने *मुक्तिदाता* के बहुत बाद सम्पूर्ण *न्यू टेस्टामेण्ट* के अनुवाद का कार्य प्रारम्भ किया। उन्होंने सबसे पहले गाँधी जन्मशती के अवसर पर उनकी प्रिय रचना 'ए सर्मन ऑन दी माउण्ट' का अनुवाद 'पर्वत प्रवचन' (1959 ई.) के नाम से प्रस्तुत किया और अपने *बाइबिल*-अनुवाद की सफलता की जाँच-परख के लिए 'सन्त लूकस' (1963 ई.) का अनुवाद प्रकाशित किया।

> "मैंने प्रयोग के रूप में पहले सन्त लूकस के सुसमाचार का अनुवाद किया और उसकी प्रतिक्रिया पर अपनी योजना का भविष्य छोड़ दिया। इसके प्रकाशन के तुरन्त बाद बिशपों की ओर से पूरी *बाइबिल* का अनुवाद करने का आग्रह आया। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने पत्र द्वारा यह अनुरोध किया कि आप पूरी *बाइबिल* का अनुवाद क्यों नहीं कर डालते।" (आलोचना 75, पृ. 15)

इससे उन्हें बहुत प्रेरणा मिली। उन्होंने पहले न्यू टेस्टामेण्ट के 'चारों सुसमाचार' (1970 ई.) का अनुवाद किया और इसके बाद 'प्रेरितचरित' (1973 ई.) का। समग्र *न्यू टेस्टामेण्ट* का उनका अनुवाद *हिन्दी बाइबिल : न्यू टेस्टामेण्ट* के नाम से 1977 ई. में प्रकाशित हुआ, जिसके द्वितीय संशोधित संस्करण का शीर्षक 1979 ई. में *नया विधान : न्यू टेस्टामेण्ट* हो गया।

'नया विधान' ईसाई धर्माचार्यों, *बाइबिल*-विशेषज्ञों तथा ईसाई और ग़ैर-ईसाई हिन्दीभाषियों के बीच बहुत लोकप्रिय हुआ। इसकी सुबोधता, स्वाभाविकता और पाठगत शुद्धता से प्रभावित होकर कैथोलिक बिशपों ने उनसे गिरजाघरों में पाठ किए जानेवाले संग्रहों के अनुवाद का अनुरोध किया। उन्होंने रविवारीय पाठ-संग्रह (1972 ई.), पाठ-संग्रह भाग-3 (1973 ई.) और दैनिक पाठ-संग्रह (1974 ई.) के नाम से इनका अनुवाद किया। इनमें 'नया विधान' के अतिरिक्त 'पुराना विधान' के भी अंश हैं, जिनमें 'पुराना विधान' के स्रोतों का उनका अनुवाद *दि हिन्दी साल्टर* के नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में 1980 ई. में प्रकाशित हुआ।

पहले उनकी कार्य-योजना में *ओल्ड टेस्टामेण्ट* का अनुवाद सम्मिलित नहीं था। किन्तु अब तक *ओल्ड टेस्टामेण्ट* के बहुत-सारे अंशों का अनुवाद वे पाठ-संग्रहों में कर चुके थे। जब अपने गिरते स्वास्थ्य के कारण उन्हें ऐसा लगा कि वे परिमाण में 'नया विधान' से साढ़े तीन गुना अधिक बड़े 'पुराना विधान' का स्वतन्त्र रूप से अनुवाद नहीं कर पाएँगे, तो उन्होंने इस कार्य को सम्पन्न करने के प्रयोजन से एक युक्ति निकाली : उन्होंने फ़ा. वाल्द के *ओल्ड टेस्टामेण्ट* के संशोधन द्वारा इसे इच्छित रूप देना चाहा। उन्होंने इसके हीब्रू, लैटिन और ग्रीक पाठों तथा अंग्रेज़ी, फ्रेंच और डच अनुवादों के आधार पर इसके पंचग्रन्थों (तौरेत), टोबीत के अतिरिक्त अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थों और पिरमियाह (1-26) की अनुवाद-सम्बन्धी त्रुटियों और भाषा के संशोधन से इन्हें इतना अधिक बदल दिया कि ये वाल्द की अपेक्षा उनका अपना अनुवाद बन गए। किन्तु यह कार्य उन्हें इतना श्रमसाध्य और कष्टकर लगा कि उन्हें संशोधन की तुलना में शेष अंशों का स्वतन्त्र अनुवाद अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ। उन्होंने *ओल्ड टेस्टामेण्ट* के उदेशक-ग्रन्थ, काव्यग्रन्थों और इसायाह का नया अनुवाद तैयार कर लिया, किन्तु उनके आकस्मिक निधन के कारण इसके प्रायः डेढ़ सौ पृष्ठों का अनुवाद बाक़ी ही रह गया। कैथोलिक बिशपों की सामान्य समिति के आग्रह पर इसके बचे हुए ग्रन्थों में से पिरमियाह (27-52), एज़ेकिएल, शोकगीत और सर्वश्रेष्ठ गीत का अनुवाद उनके मुख्य अनुवाद-सहयोगी डॉ. दिनेश्वर प्रसाद तथा दानिएल और गौण नबी का उनके पूर्व छात्र और धर्मसंघी डॉ. विलियम द्वायर ने पूरा किया।

हर अनुवाद की तरह *बाइबिल* के अनुवाद के भी दो आधार हैं। पहला आधार मूल भाषा के पाठ का अनुगमन है और दूसरा आधार, अनुवाद-भाषा की प्रकृति का अनुपालन। फ़ा. बुल्के में दोनों की चिन्ता मौजूद रही है। 'नया विधान' के 'दो शब्द' में वह कहते हैं कि "*बाइबिल* के अनुवादक को अन्य अनुवादकों की अपेक्षा मूल की रक्षा करने के सम्बन्ध में अधिक सतर्क रहना चाहिए।" (1 : 1977 ई.) 'नया विधान' की प्रमुख मूल भाषा ग्रीक या यूनानी है, किन्तु हिन्दी में, मूल भाषा से अनुवाद का दावा करनेवालों ने भी अंग्रेज़ी *बाइबिलों* को ही आधार बनाया है। फ़ा. बुल्के के अनुवाद की विशेषता यह है कि उन्होंने ग्रीक या यूनानी पाठ को आधार बनाया है, किन्तु इसके अभिप्रायों की सही अभिव्यक्ति के लिए यूरोपीय भाषाओं में उपलब्ध इसके प्रामाणिक अनुवादों का भी सहारा लिया है। 'प्रेरित-चरित' की भूमिका 'अनुवादक का निवेदन' में उन्होंने कहा है कि "मैंने आधुनिकतम फ्रेंच, अंग्रेज़ी तथा डच अनुवादों से प्रेरणा लेकर सरल स्वाभाविक परिनिष्ठित खड़ी बोली हिन्दी में प्रस्तुत पुस्तक के मूल यूनानी पाठ का अनुवाद किया।" (6-7, 1973 ई.) उन्होंने यही बात *दि हिन्दी साल्टर* की अंग्रेज़ी भूमिका (नोट ऑफ़ द ट्रांसलेटर) में कही है और यह भी बताया है कि उन्होंने इसके तीन सर्वोत्तम फ्रेंच अनुवादों (Dhorme, Hosty और occumenical

T.O.B.) का उपयोग किया है। अनुवाद की प्रामाणिकता सुनिश्चित करने के लिए उन्होंने *बाइबिल* के सुप्रसिद्ध जर्मन कोष (Worterbuch) का भी बारम्बार उपयोग किया है, जिसमें इस धर्मग्रन्थ के एक-एक शब्द की बारम्बारता तथा सन्दर्भगत अर्थभेदों का सूचीकरण हुआ है।

स्पष्ट है, यह कार्य वही व्यक्ति कर सकता था, जो बहुभाषाविद् होने के साथ-साथ *बाइबिल*विद् भी हो और जिसकी भाषिक चेतना अत्यन्त विकसित और समृद्ध हो। फ़ा. बुल्के ऐसे ही व्यक्ति थे। उनकी विशिष्ट भाषिक चेतना का एक साक्ष्य उनका अनुवाद भाषा-विषयक प्रतिमान है। *बाइबिल* के विभिन्न ग्रन्थों के अपने अनुवाद की भूमिकाओं और समय-समय पर दिए गए साक्षात्कारों में वे बार-बार अपनी *बाइबिल* की हिन्दी के विषय में 'परिनिष्ठित' और 'सरल स्वाभाविक' विशेषणों का प्रयोग करते हैं, जैसे, "मैंने परिनिष्ठित खड़ीबोली में मूल यूनानी पाठ का सरल स्वाभाविक अनुवाद प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।" (*नया विधान*, दो शब्द, पृ. ट : 1977 ई.) इसका एक कारण यह है कि मूल *बाइबिल* की भाषा भी सरल-स्वाभाविक है, क्योंकि इसका प्रयोजन अपना सन्देश जन-जन तक पहुँचाना रहा है। अतः अपनी अनुवाद-भाषा की सर्वसुबोधता सुनिश्चित करने के लिए वे अपने पाठक वर्ग या श्रोता-समुदाय को कसौटी बनाते हैं :

> "जिन ईसाइयों ने इसे पढ़ा है, वे यह कहते हैं कि पहले *बाइबिल* नहीं समझते थे, लेकिन अब समझते हैं।"
>
> अनुवाद की भाषा की सरलता की परीक्षा करते रहने के लिए मैंने एक युक्ति अपनायी है। मैं अपना अनुवाद साधारण सहायक ब्रदरों को सुनाता हूँ और जब वे यह कहते हैं कि इसे समझने में कोई कठिनाई नहीं हो रही है, तभी मैं अपनी हिन्दी से सन्तुष्ट होता हूँ।" (*आलोचना* 75, पृ. 15)

बाइबिल के प्रचलित अनुवाद और फ़ा. बुल्के की *बाइबिल*

फ़ा. बुल्के की *बाइबिल* इसके हिन्दी अनुवादकों की कई पीढ़ियों के प्रयत्नों के गुण-दोषों की जाँच-परख के बाद तैयार हुई है। मूल के रूपान्तरण तथा भाषा की स्वाभाविकता और सहज सम्प्रेषणीयता के विचार से मूल्यांकन करने पर यह *बाइबिल* के अब तक प्रकाशित और प्रचलित अनुवादों से अधिक श्रेष्ठ है। "सफल अनुवाद की विशेषता यह होनी चाहिए कि उसमें अनुवाद की गन्ध नहीं मिले" (*हिन्दी बाइबिल : न्यू टेस्टामेण्ट*) तो यह वैसा ही अनुवाद है। इसमें सन्देह नहीं कि यह अनुवाद के क्षेत्र में हिन्दी की एक कालजयी उपलब्धि है। यह हिन्दी की अभिव्यंजना-क्षमता का एक अमूल्य दस्तावेज़ और अनुवाद होने के बावजूद एक श्रेष्ठ सर्जनात्मक कृति है। अतः इसका मूल्यांकन अनुवादविज्ञान की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि कलात्मक दृष्टि से भी

किया जाना चाहिए। इसकी विशेषता यह भी है कि ग़ैर-ईसाई हिन्दी पाठकों और लेखकों के उस बृहत्तर समुदाय के सामने, जो इसके अबोधगम्य, जटिल और अरुचिकर अनुवादों के कारण इसे पढ़ और समझ नहीं पाता था, इसके माध्यम से साहित्य-रचना के विषयों तथा शैलीय और शिल्पगत ढाँचों का एक नया संसार उद्‌घाटित हुआ है।

फ़ा. बुल्के के अनुवाद की विशेषताओं की समझ के आधार के रूप में यहाँ *बाइबिल* के प्रचलित अनुवादों के समानान्तर उनकी *बाइबिल* के अंश प्रस्तुत हैं।

ओल्ड टेस्टामेण्ट
(भजन या स्रोत—सं. 19)

आकाश ईश्वर की महिमा वर्णन
कर रहा है
आकाशमण्डल उसके हाथों के काम
प्रगट करता है॥
दिन से दिन बातें करता
और रात को रात ज्ञान सिखाती है॥
न तो बातें न वचन
न उनका कुछ शब्द सुनाई देता है॥
उनके स्वर सारी पृथिवी पर
और उनके वचन जगत की छोर
लों पहुँच गए हैं
उनमें उसने सूर्य्य के लिए
एक डेरा खड़ा किया है॥
5. सूर्य्य मण्डप से निकलते हुए दुल्हे
के समान है
वर क्षीर की नाईं अपनी दौड़ दौड़ने
को हर्षित होता है॥

(*धर्मशास्त्र*, 480-81; 1944
ई. ब्रिटिश एण्ड फ़ारेन् *बाइबिल* सोसाइटी इलाहाबाद)

आकाश परमेश्वर की महिमा का वर्णन
कर रहा है,
आकाश का महराब उसके हस्तशिल्प को
प्रकट करता है!

2. दिन से दिन निरन्तर वार्तालाप करता है,
और रात, रात को ज्ञान प्रदान करती है।
3. न तो वाणी है, और न शब्द ही है,
उनका स्वर सुना नहीं गया।
4. फिर भी उनकी वाणी समस्त पृथ्वी
पर फैल जाती है,
और पृथ्वी के सीमान्त तक उनके शब्द।
परमेश्वर ने उनके मध्य सूर्य के लिए
एक शिविर स्थापित किया है।
5. वह ऐसे उदित होता है, जैसे दूल्हा।
मण्डप से बाहर आता है।
वह सशक्त धावक के समान
अपनी दौड़ दौड़ने में आनन्दित होता है।

(*भजन संहिता*, पृ. 24, 1972 ई.
बाइबिल सोसायटी ऑफ़ इण्डिया, बंगलोर)

आकाश ईश्वर की महिमा बखानता है,
तारामण्डल उसका सामर्थ्य प्रकट करता है।
दिन, दिन को उसकी कहानी सुनाता है
और रात, रात को उसे बताती है।
न तो कोई वाणी सुनाई देती है,
न कोई शब्द और न कोई स्वर
फिर भी उसकी गूँज संसार भर में
फैल जाती है
और पृथ्वी के सीमान्तों तक उसकी ध्वनि।
प्रभु ने आकाश में सूर्य के लिए
एक तम्बू खड़ा किया है।
वह उससे इस तरह प्रकट होता है,
जिस तरह वर विवाह मण्डप से निकलता है।
सूर्य उत्साह के साथ शूरवीर की
तरह अपनी दौड़ पूरी करने जाता है।

(*पवित्र बाइबिल*, बुल्के : 831; 1990)

न्यू टेस्टामेण्ट
(सन्त लूकस : 6, 41-42)

तू अपने भाई की आँख के तिनके को
क्यों देखता है और अपनी ही आँख
का लट्ठा तुझे नहीं सूझता। और
जब तू अपनी ही आँख का लट्ठा
नहीं देखता तो अपने भाई से क्योंकर
कह सकता है हे भाई ठहर जा
तेरी आँख से तिनके को निकाल
दूँ। हे कपटी, पहिले अपनी आँख
से लट्ठा निकाल तब जो तिनका तेरे
भाई की आँख में है भली-भाँति
देखकर निकाल सकेगा।

(*धर्मशास्त्र* : 54-55 : 1940 इलाहाबाद)

तुम अपने भाई की आँख का तिनका
क्यों देखते हो? अपनी आँख का लट्ठा
तुम्हें नहीं सूझता? जब स्वयं अपनी
आँख का लट्ठा नहीं देखते तो तुम
अपने भाई से कैसे कह सकते हो,
"भाई, लाओ, मैं तुम्हारी आँख का
तिनका निकाल दूँ"? हे पाखण्डी,
पहले अपनी आँख का लट्ठा निकाल
ले, तभी अपने भाई की आँख का
तिनका निकालने के लिए ठीक-ठीक
देख सकेगा।

(*नया नियम* : 153 : 1965
भारत-लंका *बाइबिल* समिति, बंगलोर)

तुम अपने भाई की आँख में पड़ा तिनका
क्यों देखते हो, जबकि अपनी आँख में पड़ी
धरन का तुम्हें पता नहीं? तुम किस मुँह से
अपने भाई को कहते हो, "भाई साहब"
आइए आपकी आँख से तिनका निकाल दूँ"
जब तुम अपनी आँख की धरन नहीं देखते?

ऐ पाखण्डी, पहले तुम अपनी आँख से धरन
निकालकर फेंक दो, तब अपने भाई
की आँख से तिनका निकालने के लिए
साफ-साफ देख सकोगे।

(*नया व्यवस्थान*: फ़ादर आर. पी. साह; 156 : 1973 ई., पटना)

41. जब तुम्हें अपनी ही आँख की धरन का पता नहीं,
तो तुम अपने भाई की आँख का तिनका क्यों देखते हो?

42. जब तुम अपनी ही आँख की धरन नहीं देखते,
तो अपने भाई से कैसे कह सकते हो,
"भाई! मैं तुम्हारी आँख का तिनका निकाल दूँ?"
रे ढोंगी, पहले अपनी ही आँख की धरन निकाल लो।
तभी तुम अपने भाई की आँख का तिनका निकालने के लिए
अच्छी तरह देख सकोगे।

(*नया विधान*, बुल्के : 165 : 1977)

तुलना के लिए प्रस्तुत उपर्युक्त उद्धरण *बाइबिल*-अनुवाद की परम्परा और फ़ादर बुल्के के उससे पार्थक्य के अनुमान के उदाहरण हैं। यह पार्थक्य एक ओर भाषा की बनावट का है, दूसरी ओर अभिव्यंजना की पद्धति का। समग्रता में देखने पर फ़ा. बुल्के के अनुवाद की जो विशेषता तत्काल आकर्षित करती है, वह है—पढ़ते ही समझ में आनेवाली उसकी सरल-सुबोध और लयात्मक भाषा। हिन्दी के जातीय सौन्दर्य से दीप्त उसकी स्वाभाविकता उसे अनुवाद के दायरे से मुक्त कर मूल की नई भाषिक पुनर्रचना बना देती है। इसका कारण केवल हिन्दी पर उनका अधिकार ही नहीं, बल्कि उनका गम्भीर और प्रामाणिक *बाइबिल*-ज्ञान भी है, जिसके आधार पर वे मूल के सम्प्रेषण के लिए हिन्दी में उसके उपलब्ध विकल्पों का सन्धान और उनमें से निकटतम का चुनाव करते हैं। उन्होंने जो बात 'नया विधान' के पत्र-भाग के अनुवाद के विषय में कही है, वह एक तरह से उनके समस्त *बाइबिल*-अनुवाद पर लागू है :

> "मैंने उनके (सन्त पॉल के पत्रों के) भावों को लोकसुलभ भाषा में प्रस्तुत करने के लिए उन पर घण्टों परिश्रम किया है और कभी-कभी एक-एक पंक्ति, मुहावरे, वाक्यांश या शब्द के सही और सरल पर्याय निश्चित करने के लिए अनेक विकल्पों पर विचार किया है।" (आलोचना 75, पृ. 15)

उनकी यही अद्वितीय मूलनिष्ठता और भाषा-साधना उनके *बाइबिल*-अनुवाद को हिन्दी की ऐतिहासिक उपलब्धि बनाती है।

□

⑥ कोश-निर्माण कार्य और स्फुट लेखन

कोश-कार्य

डॉ. कामिल बुल्के का अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश (1968) हिन्दी में कोश-निर्माण के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इससे पहले लगभग पचास अंग्रेज़ी-हिन्दी शब्दकोशों का प्रणयन हो चुका था। सबसे पहला कोश *हिन्दुस्तानी भाषा का कोश* है, जो 1773 ई. में लन्दन से प्रकाशित हुआ था। इसके कोशकार जॉन फ़रग्युसन हैं। महत्त्व की दृष्टि से फ़ादर जे. डी. वेट का *हिन्दी भाषा का शब्दकोश* (बनारस, 1870 ई.), एम. डब्ल्यु. फैलन का *हिन्दुस्तानी कोश* (बनारस) और जे. टी. प्लाट्स का *उर्दू-हिन्दी और अंग्रेज़ी शब्दकोश* (लन्दन, 1884 ई.) पुराने कोशों में सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं। बाद के कोशों में, फ़ा. बुल्के के कोश के अतिरिक्त, डॉ. हरदेव बाहरी का *बृहद् अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश* (वाराणसी, 1960 ई.), महेन्द्र चतुर्वेदी और भोलानाथ तिवारी का *व्यावहारिक हिन्दी-अंग्रेज़ी कोश* (दिल्ली, 1950 ई.) और डॉ. सत्यप्रकाश का *मानक अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश* (इलाहाबाद 1970 ई.) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कोश-निर्माण के इस लम्बे इतिहास में फ़ादर बुल्के के कोश की प्रमुख विशेषता यह है कि यह अपने विषय की सबसे वैज्ञानिक कृति है। यह हिन्दी में अनुवाद-कार्य की दृष्टि से सबसे अधिक उपयोगी और प्रामाणिक है। यही कारण है कि हिन्दी समाचार पत्रों और केन्द्र एवं राज्य सरकारों के कार्यालयों में इसका सर्वाधिक उपयोग होता है। वस्तुतः इसकी रचना का मुख्य प्रयोजन अंग्रेज़ी की प्रामाणिक जानकारी देना है। स्वयं फ़ादर बुल्के ने इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उससे भी यही स्पष्ट होता है। उनके अनुसार, वह एक लम्बे समय से ऐसे शब्दकोश के अभाव का अनुभव कर रहे थे :

> "यह देखकर कि एक भी *अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश* विश्वसनीय नहीं है, मैंने इस दिशा में सोचना शुरू किया। ईसाई पुरोहितों की पारिभाषिक शब्दावली कच्ची थी। मैंने उनको ध्यान में रखकर *ए टेक्निकल इंग्लिश-हिन्दी ग्लॉसरी* नामक छोटा शब्दकोश तैयार किया। इस कोश का इतना अधिक स्वागत हुआ कि मेरा उत्साह बढ़ गया और मैंने पाँच वर्षों के कठिन परिश्रम के बाद *अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश* प्रस्तुत किया।" (आलोचना 75, पृ. 14)

ए टेक्निकल इंग्लिश-हिन्दी ग्लॉसरी की तुलना में इस कोश की एक विशेषता

यह है कि यह केवल ईसाई पुरोहितों के लिए नहीं, बल्कि सर्वजनोपयोगी है। इसके विस्तार और आकल्पन के स्वरूप से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि यह समस्त हिन्दीभाषी या हिन्दी माध्यम का उपयोग करनेवाले समाज मात्र के लिए है। कई पुराने और बाद के अंग्रेज़ी-हिन्दी कोशों की तुलना में इसकी अधिक लोकप्रियता से भी यही प्रमाणित होता है।

वस्तुतः इसकी लोकप्रियता का कारण इसकी वे विशेषताएँ हैं, जो इसे द्विभाषिक कोशों में अतुलनीय बनाती हैं।

इसकी पहली विशेषता इसका शब्द चयन-सम्बन्धी विवेक है। इसमें केवल ऐसे शब्दों का समावेश किया गया है, जो सर्वाधिक प्रयुक्त और उपयोगी हैं। इस प्रकार का कार्य उन कोशों की तुलना में कहीं अधिक कठिन है जो अंग्रेज़ी भाषा के समस्त या अधिकतम शब्दों के समावेश और उनके पर्याय-निर्देश की दृष्टि से तैयार किए गए हैं। इसके उदाहरण हैं—डॉ. सत्यप्रकाश का *मानक अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश* और *डॉ. हरदेव बाहरी* का *बृहद् अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश*।

डॉ. सत्यप्रकाश के कोश में, जिसकी कुल पृष्ठ-संख्या 1573 है, प्रत्येक अंग्रेज़ी शब्द की व्युत्पत्ति और विकासक्रम का निरूपण हुआ है; जैसे :

abash (ā băsh) O.F. esbair (F. e bahi) pres. P. esbaissant; O.F. es. (L. ex-) bair, to express amajement, BAH) (पृ. 1)

डॉ. बाहरी के कोश का उद्देश्य न केवल अधिकतम अंग्रेज़ी शब्दों का समावेश करना है, वरन् अंग्रेज़ी शब्द-विशेष के प्रचलित और अप्रचलित, सभी तरह के हिन्दी पर्यायों की प्रस्तुति करना भी है; जैसे आर्मी के पर्यायों के रूप में अनीकिनी, अक्षौहिणी आदि सभी सेनावाची शब्दों का सूचीकरण। इससे यह तो पता चलता है कि हिन्दी कोशों में कितने सेनावाची शब्द मिलते हैं, किन्तु यह नहीं पता चलता कि सेना और फ़ौज ही इसके सर्वाधिक लोकप्रचलित पर्याय हैं।

वस्तुतः बड़े अंग्रेज़ी-हिन्दी कोशों की प्रविष्टियों में पुराने, मध्यकालीन और आधुनिक, सभी तरह के अंग्रेज़ी शब्द मिल जाते हैं। इस प्रकार के कोशों से फ़ादर बुल्के के कोश की भिन्नता यह है कि इसमें केवल आज की अंग्रेज़ी के शब्दों का समावेश हुआ है। वस्तुतः इसका उद्देश्य भी आज की अंग्रेज़ी का कोश प्रस्तुत करना है; ऐसे शब्दों का, जो आज वास्तव में प्रचलन में हैं। यह सही है कि इस कोश में पारिभाषिक शब्दों का भी समावेश हुआ है, किन्तु वे ऐसे पारिभाषिक शब्द हैं, जो या तो जनभाषा के अंग बन गए हैं या विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्राथमिक, किन्तु अपेक्षित जानकारी के लिए जिनका अर्थबोध आवश्यक है।

इसकी दूसरी विशेषता अंग्रेज़ी शब्दों के मानक उच्चारण का देवनागरी लिप्यन्तरण है। फ़ादर बुल्के ने इसके लिए रोमन वर्णों के सही उच्चारण के देवनागरी संकेत चिह्नों का निर्धारण कर जो स्वर-व्यंजन सूची प्रस्तुत की है, वह वैज्ञानिक होने के साथ

बोधगम्य और सरल भी है। उदाहरण के लिए, उन्होंने यह निर्देश किया है कि अ (a) के उच्चारण के तीन रूप हैं। उन्होंने देवनागरी लिपि में उनका निर्देश इस प्रकार किया है—अ, अः और अॅ। हिन्दी में भ के रूप में v के उच्चारण और लिप्यन्तरण की प्रवृत्ति मिलती है, जबकि v का उच्चारण भ से भिन्न है। फ़ा. बुल्के ने इसके लिए व़ संकेत निर्धारित किया है; जैसे, violence, व़ाइअलन्स। इस प्रकार के संकेतों के अतिरिक्त कुछ विशेष वर्णों के शुद्ध उच्चारण के लिए वे आवश्यक निर्देश भी प्रस्तुत करते हैं; जैसे, "(अं. में) द दन्त्य संघर्षी, न्ग कण्ठ्य अनुनासिक, व दन्तोष्ठ्य संघर्षी और इज़ तालव्य-वर्त्स्य संघर्षी हैं।" (IX)

हिन्दी में अंग्रेज़ी शब्दों के सही उच्चारण-सम्बन्धी ये निर्देश और प्रत्येक अंग्रेज़ी शब्द का देवनागरी लिप्यन्तरण अंग्रेज़ी भाषा का वाचिक व्यवहार करनेवाले लोगों के लिए बहुत मूल्यवान है। इनका अनुपालन कर कोई भी व्यक्ति इस विदेशी भापा का उच्चारण मानक रूप में कर सकता है। इस प्रसंग में एक बात का उल्लेख आवश्यक है। फ़ा. बुल्के द्वारा प्रस्तुत ये उच्चारण भारत में रूढ़ या प्रचलित ब्रिटिश अंग्रेजी उच्चारण हैं। यह सही है कि अंग्रेज़ी केवल ब्रिटेन की भाषा नहीं है। यह संयुक्त राज्य (यू. एस. ए.), कनाडा, ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड—जैसे देशों की मातृभाषा भी है। यह पूर्व ब्रिटिश उपनिवेशों की भी प्रमुख राजभाषा है। इन सब देशों में प्रचलित इसके व्याकरणिक रूपों में भिन्नता मिलती है। इनमें इसके वाचिक या उच्चरित रूप भी भिन्न हो गए हैं। कभी अंग्रेज़ी के ब्रिटिश उच्चारण को सबसे अधिक मानक माना जाता था, किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इसका अमरीकी (यू. एस.) उच्चारण समानान्तर रूप से मानक माना जाने लगा है और चीन, रूस, जापान आदि देशों में तो इन दिनों ब्रिटिश उच्चारण की तुलना में उसे अधिक मानक स्वीकार किया जाने लगा है। लेकिन भारत में अब भी अंग्रेज़ी का ब्रिटिश उच्चारण एकमात्र सर्वमान्य उच्चारण है। अतः यदि फ़ा. बुल्के ने अपने कोश में इसे ही मानक मानकर देवनागरी में इसके अनुसार अंग्रेज़ी शब्दों का लिप्यन्तरण किया है, तो उचित ही है।

इस कोश की तीसरी विशेषता अंग्रेज़ी शब्दों का अर्थ-विभाजन करते हुए तदनुरूप उपयुक्त हिन्दी पर्यायों का सूचीकरण है।

इतिहास की दृष्टि से भले ही प्रारम्भ में भाषा के शब्द एकार्थी रहे हों, कालान्तरण में उनमें अर्थवैविध्य उत्पन्न हो जाता है। जो भाषा जितनी पुरानी है और जिसके प्रयोग-क्षेत्र जितने ही विविध, उसके शब्दों में अर्थभेद उतने ही उपलब्ध होते हैं। यह बात प्रत्येक पुरानी और प्रयोगविविधा भापा की तरह अंग्रेज़ी पर भी लागू है। इसलिए किसी भी भाषा के कोशकार की तरह अंग्रेज़ी-हिन्दी कोशकार के सामने अंग्रेज़ी के शब्द-विशेष के अर्थविभाजन और तदनुरूप हिन्दी में उपयुक्त पर्यायों के निर्धारण की समस्या उपस्थित होती है। कोश बनाते समय फ़ा. बुल्के को वारम्वार इस समस्या का सामना और निदान करना पड़ा है, जिसका उल्लेख उन्होंने *हिन्दी*

अनुशीलन में प्रकाशित अपने निबन्ध 'कोश-निर्माण सम्बन्धी मेरे अनुभव' में इस प्रकार स्पष्ट किया हैः

> "अंग्रेज़ी के बहुत-से शब्द सरल मालूम पड़ते हैं, किन्तु उनका अर्थ-विस्तार हिन्दी समानान्तर शब्दों से नितान्त भिन्न है। उदाहरणार्थ, अंग्रेज़ी शब्द 'क्लोज़' के अट्ठारह हिन्दी पर्याय निकले और मुझे तभी सन्तोष हुआ जब मैंने कोष्ठकों का सहारा लेकर यह स्पष्ट कर दिया कि किस अर्थ में किस पर्याय का प्रयोग होना चाहिए—कपड़ों के सम्बन्ध में 'चुस्त', तर्क के प्रसंग में 'पुष्ट', दोस्ती के विषय में 'घनिष्ठ', मौसम के बारे में 'उमसदार' आदि। मुझे याद है कि अंग्रेज़ी 'टेक' शब्द की व्याख्या में तीन दिन लगे थे।...अंग्रेज़ी शब्द 'स्ट्रांग' के पन्द्रह-बीस पर्याय लिख डालने में कोई कठिनाई नहीं होती, किन्तु इसका निर्देश करने में कि कौन अर्थ किस प्रसंग में प्रयुक्त है, उसमें बहुत समय लगता है। कड़ी चाय, दृढ़ निश्चय, शक्तिशाली व्यक्तित्व, गहरा प्रेम आदि के लिए एक ही अंग्रेज़ी शब्द 'स्ट्रांग' से काम चलता है। इस प्रकार के विभिन्न प्रयोगों के पृथक्करण में मुझे सबसे अधिक परेशानी हुई थी।" (पृ. 73)

स्फुट लेखन

फ़ा. कामिल बुल्के का साहित्य मूल रूप से बौद्धिक और अनुसन्धानपरक है, किन्तु उनके लेखन का एक छोटा-सा भाग वह भी है, जहाँ उनके रचनात्मक पक्ष की अभिव्यक्ति हुई है। इसका रहस्य स्वयं उनके व्यक्तित्व में मौजूद है। वे प्रपत्तिवादी ईसाई थे। वे अपने अध्यात्मगुरु तुलसीदास की तरह आस्था के मामले में तर्क-वितर्क को नहीं, बल्कि भावभक्ति को महत्त्व देते थे। हर सच्चे भक्त की तरह उनका स्वभाव भी भावुक और संवेदनशील था। यों भी, बचपन से ही वह काव्यप्रेमी व्यक्ति थे। उन्हें गज़ैले, रिल्के, गेटे, लाफोंत, विक्टर ह्यूगो और तुलसीदास की ढेर-सारी कविताएँ कण्ठाग्र थीं। अतः यदि उनके भावतरल स्वभाव की अभिव्यक्ति कुछ रचनाओं में हुई है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

वस्तुतः संन्यासी होने के बाद, वाल्केनबर्ग (हॉलैण्ड) के कैथोलिक मठ में रहते समय, 1933 ई. में उन्होंने जर्मन भाषा में तीन ललित निबन्ध लिखे थे, जिनमें से दो उल्लेख्य हैं—'मनुष्यमात्र की एकता' और 'मेरा गाँव'। 1975 ई. के आसपास उन्होंने स्वयं इनका हिन्दी में अनुवाद किया था। उनका दूसरा निबन्ध *डॉ. बुल्के स्मृति ग्रन्थ* (पृ. 15-18) में उनके निधन के बाद प्रकाशित हुआ है। मूलतः हिन्दी में लिखित "मैं क्रिसमस पर क्या सोचता हूँ" (*धर्मयुग*, 24-12-1972, पृ. 29-30) उनका तीसरा ललित निबन्ध है। तीनों समान रूप से कलात्मक और प्रभावशाली हैं।

यहाँ क्रमशः 'मेरा गाँव' और "मैं क्रिसमस पर क्या सोचता हूँ" का एक-एक अंश उद्धृत किया जा रहा है :

(क) मुझे वह (अपना) गाँव छोड़ना पड़ा और मैं फिर नहीं पाऊँगा—उन हरे मैदानों को, जहाँ बचपन में उल्लास से भरकर खेलता था; उन बाड़ों को, जिनमें हम अपने बाल्य जीवन में पक्षियों के नीड़ खोजा करते थे; उन पौधों को, जहाँ हम फल तोड़ने जाते थे; उन छोटी नदियों को, जिनमें हम तैरते और जिनकी बर्फ़ पर जाड़ों में खेल खेला करते थे। मैं उन्हें फिर नहीं पाऊँगा, लेकिन उन्हें कभी नहीं भूलूँगा। (स्मृति ग्रन्थ, पृ. 18)

(ख) उस दिन अनायास ही बचपन भी याद आता है। दिवंगत वात्सल्यमयी माता याद आती है। मेरे जन्मभूमि के दृश्य मेरे सामने गुज़रते हैं—बर्फ़ से ढँका हुआ देश और अपने क़स्बे का विशाल मन्दिर, जिसमें मध्यरात्रि को धर्मविधियाँ सम्पन्न की जाती थीं। अपने घर के उल्लासमय वातावरण का स्मरण मुझे कुछ क्षणों के लिए दूर अतीत की ओर ले जाता है। किन्तु वह मधुर भावुकता अधिक देर तक नहीं टिकती। मैंने अपना अधिकांश जीवन भारत में बिताया है और यहाँ कितने ही लोगों से आत्मीयता का सम्बन्ध हो गया है। मैं क्रिसमस के दिन यूरोप के रिश्तेदारों को अवश्य याद करता हूँ, किन्तु मेरा मन अपने विस्तृत भारतीय परिवार में कहीं अधिक रम जाता है। मैं अवकाश के समय मन्दिर में बैठकर उनके लिए करुणासागर भगवान् से भगवत्कृपा का वरदान माँगता हूँ। (*धर्मयुग*, पृ. 30)

डॉ. बुल्के के दो अन्य भावात्मक निबन्ध हैं—'माता का हृदय' (1948 ई.) और 'स हि भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला' (1948 ई.), जो क्रमशः *प्रयाग विश्वविद्यालय पत्रिका* और *संगम* (इलाहाबाद) में छपे हैं। 'चुहिया और संगतराश' उनके द्वारा प्रस्तुत एक लोकप्रिय लोककथा है, जो इलाहाबाद के *हरसिंगार* (1949 ई.) में छपी है।

इनके अतिरिक्त उन्होंने महादेवी जी के विषय में 'स्वाभिमानिनी, स्वतन्त्र बुद्धि, करुणामयी' (1967 ई.), आचार्य शिवपूजन सहाय के विषय में 'विनयमूर्ति आचार्य शिवपूजन जी' (1963 ई.) और डॉ. कर्ण सिंह के विषय में 'एक आदर्श भारतीय डॉ. कर्ण सिंह : एक सौम्य व्यक्तित्व' (1981 ई.) शीर्षक व्यक्तिपरक लघु निबन्ध लिखे हैं। उनका 'प्रसन्नचित्त आतिथ्यक आचार्य ललताप्रसाद सुकुल' शीर्षक निबन्ध पाण्डुलिपि के रूप में उपलब्ध है।

उनके लेखन का यह भाग, परिमाण की दृष्टि से, भले ही गौण या उपान्त्य हो, इसकी रचनाओं में उनके ललित निबन्ध सबसे अच्छे और पठनीय हैं।

□

7

हिन्दी के निमित्त

हिन्दी के प्रति फ़ादर वुल्के के आकर्षण के कारण क्या थे, इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं अपने निबन्ध 'एक ईसाई की आस्था, हिन्दी-प्रेम और तुलसी भक्ति' में इस प्रकार किया है,

> "मैं हिन्दी तथा भारतीय संस्कृति के प्रति अपने आकर्षण का मूल स्रोत अपने विद्यार्थी जीवन का संस्कार मानता हूँ। मेरी जन्मभूमि बेल्जियम में दो भाषाएँ बोली जाती हैं—उत्तर में फ़्लेमिश और दक्षिण में फ्रेंच। एक लम्बे अरसे से समस्त देश में—प्रशासन, सेना, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा में—फ्रेंच भाषा का बोलबाला था और उत्तर बेल्जियम का शिक्षित वर्ग आपस में फ्रेंच बोलना और फ्रेंच सभ्यता में रँग जाना गौरव की बात मानता था। फ़्लेमिश भाषा के समर्थकों का आन्दोलन प्रथम महायुद्ध के बाद ज़ोर पकड़ने लगा और मैंने विद्यार्थी जीवन में अपनी मातृभाषा तथा फ़्लेमिश संस्कृति की मर्यादा के लिए उत्तर बेल्जियम के सार्वजनिक तथा सामाजिक जीवन से फ्रेंच भाषा के बहिष्कार के अभियान में वर्षो तक भाग लिया। मैं सन् 1935 ई. में भारत पहुँचा और मुझे यह देखकर आश्चर्य भी हुआ और दुःख भी कि बहुत से शिक्षित लोग अपनी सांस्कृतिक परम्परा से अनभिज्ञ हैं, अंग्रेज़ी बोलना और विदेशी सभ्यता में रँग जाना गौरव की बात मानते हैं। मैंने दृढ़ संकल्प किया कि जब उत्तर भारत में जीवन बिताना है, तो उत्तर भारत की जनता की भाषा पर अधिकार प्राप्त करना मेरा कर्त्तव्य है।"
>
> (*धर्मयुग*, 27 दिसम्बर, 1970 ई., पृ. 21)

वस्तुतः भारतीय जीवन में एक विदेशी भाषा अंग्रेज़ी का वर्चस्व न केवल उन्हें राष्ट्रीय स्वाभिमान का विरोधी लगा, बल्कि हास्यास्पद भी। वे इसे शिक्षित और अंग्रेज़ी-परस्त लोगों के वर्गदम्भ के रूप में देखते और यह वर्गदम्भ स्वयं उनको अपनी मातृभूमि बेल्जियम के फ़्लेमिश-भाषी समाज का स्मरण दिलाता, जो फ़्लेमिश की अपेक्षा फ्रेंच बोलने में गर्व अनुभव करता और फ्रेंच शिष्टाचार तथा संस्कृति के अनुरूप जीवन जीता। भारत में हिन्दी की उपेक्षा उन्हें उस विशाल जनसमूह की उपेक्षा लगती थी, जो न केवल हिन्दीभाषी है, बल्कि अन्य भाषा-भाषी भारतीय समुदायों की तुलना में सबसे बड़ा भी। इसलिए स्वभाव से विद्रोही होने के कारण उन्होंने भारत के

सार्वजनिक जीवन से अंग्रेज़ी के बहिष्कार और स्वभाषा हिन्दी की प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष करने का संकल्प लिया।

उल्लेख्य है कि फ़ा. बुल्के जिस समय भारत आए, उस समय गाँधी जी का स्वातन्त्र्य संग्राम ज़ोरों पर था। इस स्वातन्त्र्य संग्राम का अंग अंग्रेज़ी का विरोध और राष्ट्र की सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी का प्रचार था। हिन्दी का प्रचार कांग्रेस के दस सूत्री कार्यक्रम का महत्त्वपूर्ण भाग था। यद्यपि ईसाई मिशनों में अंग्रेज़ी का वर्चस्व था, लेकिन उनमें एक वर्ग उन मिशनरियों का था, जो स्वयं अपने धर्म प्रचार के मार्ग में अंग्रेज़ी को बाधक मानते थे और अलग-अलग प्रदेशों में वहाँ की मातृभाषाओं को धर्म प्रचार का माध्यम बनाने के पक्षधर थे। स्वयं फ़ा. बुल्के के रोमन कैथोलिक मिशन में उनके पहले से ही हिन्दी समर्थक मौजूद थे। ऐसे लोगों में फ़ादर जेनेरल लोदोचोस्की और फ़ादर तुर्केनबर्ग के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। फ़ा. लोदोचोस्की धर्मकार्य के लिए सबसे पहले-भारतीय भाषाओं का ज्ञान आवश्यक मानते थे। (*ऑवर फ़ील्ड*, राँची, 1940 ई., पृ. 59) फ़ा. तुर्केनबर्ग, जो फ़ा. बुल्के से बीस वर्ष पहले धर्मकार्य के लिए, भारत आए थे, हिन्दी के बड़े भारी समर्थक थे। उन्होंने कैथोलिक विद्यालयों के लिए हिन्दी रीडरें तैयार की थीं और अपने निर्देशन में *बाइबिल* के 'नया विधान' का हिन्दी अनुवाद तैयार कराया था। गुमला में हिन्दी सीखते समय फ़ा. बुल्के इसी पुस्तक का अध्ययन करते थे। जब हिन्दी और संस्कृत के अध्ययन के लिए वह सीतागढ़ (हज़ारीबाग़) गए थे, तो फ़ा. तुर्केनबर्ग ने वहाँ के रेक्टर के रूप में उनके लिए इसका प्रबन्ध किया था।

इसके बावजूद यह उल्लेख भी कम आवश्यक नहीं है कि फ़ा. बुल्के के भारत आगमन के दिनों में ईसाई मिशनों में अंग्रेज़ी का जो वर्चस्व था, वह आज भी बहुत घटा नहीं है। फ़ा. लोदोचोस्की और फ़ा. तुर्केनबर्ग उन दिनों भी अपवाद थे और उनके समधर्मा ईसाई पुरोहित आज भी बहुत प्रभावशाली नहीं हैं। आज भी भारतीय ईसाई मिशनों की माध्यम भाषा हिन्दी नहीं है। किन्तु जब आज भी भारत की प्रशासनिक और शैक्षिक व्यवस्था में अंग्रेज़ी की हैसियत प्रायः स्वतन्त्रता-पूर्व जैसी है, तो इसके लिए केवल उनको दोष देना उचित नहीं है। जब हम इस सन्दर्भ में फ़ा. कामिल बुल्के के हिन्दी-सम्बन्धी विचारों और अंग्रेज़ी विरोध की समीक्षा करते हैं, तो उनका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। यह अकारण नहीं, जो अपने जीवनकाल में उन्हें हिन्दी का धर्मयोद्धा कहा जाने लगा।

फ़ा. कामिल बुल्के का हिन्दी-प्रेम रोमाण्टिक या भावुक नहीं है, बल्कि वह उनके ठोस ऐतिहासिक और भाषिक यथार्थ-बोध पर आधारित है। उनके अनुसार हिन्दी जिस राष्ट्रीय व्यापकता और अन्तर्राष्ट्रीय प्रसार के आधार पर भारत की सम्पर्क भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हुई है, वह इसके एक लम्बे ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। इस विकास का एक पक्ष भाषिक है और दूसरा, राजनीतिक-सांस्कृतिक।

भाषिक दृष्टि से इसका इतिहास वही है, जो अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का, "खड़ी बोली का इतिहास किसी अन्य भारतीय मध्यकालीन आर्यभाषा से कम पुराना नहीं है। दसवीं शताब्दी में खड़ी बोली, ब्रज, अवधी और राजस्थानी आदि मध्यदेश की भाषाएँ अपने-अपने क्षेत्र में अपभ्रंश से उत्पन्न और विकसित हुई है।" (हिन्दी का भविष्य, *मन्थन*, पृ. 246) इस प्रकार हिन्दी के विषय में यह कहना सही नहीं है कि यह उर्दू से विकसित हुई है, बल्कि सच तो यह है कि "उर्दू वास्तव में हिन्दी की तरह उसी प्राचीन खड़ीबोली का एक अन्य साहित्यिक रूप है।" (पृ. वही) यह प्रश्न बहुत-से लोगों को उद्वेलित करता है कि वह हिन्दी, जो "दिल्ली और उसके आसपास के क्षेत्रों में प्रचलित बोली" से विकसित हुई है, किस प्रकार एक छोटे-से क्षेत्र से निकलकर पूरे भारत की सम्पर्क भाषा बन गई। डॉ. बुल्के ने हिन्दी की अखिल भारतीय व्यापकता के उन राजनीतिक-सांस्कृतिक कारणों की चर्चा की है, जिनके आधार पर इस प्रश्न का समाधान हो जाता है। उनके अनुसार, वे कारण हैं—दिल्ली की राजनीतिक केन्द्रीयता और उसके शासन का क्रमिक विस्तार। चौदहवीं शताब्दी में उपलब्ध अमीर खुसरो की हिन्दी रचनाएँ, खुसरो के समकालीन नामदेव के पंजाब में लिखित पद, पन्द्रहवीं शताब्दी के बनारस के कबीर की खड़ीबोली की रचनाएँ तथा इसी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सूफ़ी सन्त ख़्वाजा बन्देनवाज़ के दिल्ली से दौलताबाद आकर बस जाने के बाद लिखित उनका हिन्दी गद्य इस बात के प्रमाण हैं कि किस प्रकार यह भाषा मध्यदेश में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की भाषा बन गई, बल्कि इसका प्रसार दक्षिण भारत तक हो गया, "उनके (ख़्वाजा बन्देनवाज़) साथ इतनी अधिक संख्या में हिन्दी बोलनेवाले दक्षिण में बस गए कि वहाँ दक्खिनी के नाम से उस बोली की एक शाखा विकसित हो गई। दक्खिनी में जो कई शताब्दियों तक साहित्य रचा गया, वह बहुत समृद्ध है और खड़ीबोली की वर्तमान साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भी।" (वही, पृ. 246) डॉ. बुल्के इस बात का भी उल्लेख करते हैं कि जहाँ दिल्ली दरबार के केन्द्रीय महत्त्व और उसकी राजनीतिक शक्ति के भारतव्यापी विस्तार ने हिन्दी को व्यापक बनाया, वहाँ इसके विघटन के कारण व्यापारी जातियों ने इसके प्रचार में योग दिया।

अपने हज़ार वर्षों के इतिहास में हिन्दी ने जिस रूप में अपना विकास और विस्तार किया है, वह अपने आप में अपूर्व है। आज यह किसी क्षेत्र विशेष की भाषा नहीं रह गई है। भारत के सभी प्रदेशों, भाषाओं और धर्मों के लोगों ने इसके विकास में योग दिया है। इसका एक बड़ा कारण इसकी वह सरलता है, जो बिना सीखे भी इसका व्यवहार सम्भव बना देती है। जहाँ इसके हिन्दी और उर्दू—जैसे दो साहित्यिक रूप हैं, वहाँ इसका एक तीसरा यानी जन रूप भी है। यही वह रूप है, जो निपट सरल है, सुनकर ही समझ में आ जाता और अनायास ही व्यवहृत होने लगता है :

"यही कारण है कि उत्तर भारत का हर शिक्षित नागरिक हिन्दी का काम-चलाऊ ज्ञान अपनी जन्मसिद्ध सम्पत्ति समझता है और हिन्दी सीखने की आवश्यकता महसूस नहीं करता। मैंने कितनी ही बार यात्रा करते समय उत्तर भारत के अहिन्दी प्रदेशों के लोगों से पूछा है, "आप काफ़ी अच्छी तरह हिन्दी बोल लेते हैं। आपने हिन्दी कब सीखी?" बारम्बार उत्तर मिला है, "कभी नहीं। मुझे हिन्दी यों ही आती है।" (वही, पृ. 250)

वे, शब्दभेद से, कई स्थानों पर यही बात दुहराते हैं और अफ़गानिस्तान से कन्याकुमारी तक इसके विस्तार का उल्लेख करते हैं।[1]

फ़ा बुल्के हिन्दी की उन विशेषताओं का उल्लेख करते हैं, जो बुनियादी तौर पर इसकी संरचना में मौजूद हैं और जिनके कारण यह भाषा इतना विस्तार पा सकी है। डॉ. बुल्के के अनुसार, वे विशेषताएँ हैं—सरलता के साथ-साथ नमनीयता और व्यंजकता, नए शब्द बनाने की क्षमता और सब कुछ पचा लेने की सामर्थ्य। (*मन्थन*, पृ. 248-249) यों भी इसका शब्दस्रोत वैविध्यपूर्ण है। इसमें तद्‌भव शब्द और अपने असंख्य कहावतें और मुहावरे ही नहीं हैं, बल्कि संस्कृत और उर्दू (अरबी-फ़ारसी) के स्रोतों से उपलब्ध शब्दों की संख्या बहुत बड़ी है। इसकी उच्चारण पद्धति सुनिश्चित है, इसमें सभी ध्वनियों के संकेत या अक्षर हैं और 'वर्तनी (हिज्जे) और उच्चारण में पूर्ण सामंजस्य है।' (वही, पृ. 249) वे उन विद्वानों से सहमत नहीं हैं, जो यह मानते हैं कि यूरोपीय भाषाओं की तुलना में हिन्दी कम समृद्ध और अभिव्यंजक है। वे अपने निबन्धों और साक्षात्कारों में बार-बार यह उल्लेख करते हैं कि शब्द-सम्पदा और अभिव्यंजकता की दृष्टि से यह यूरोपीय भाषाओं की तुलना में कहीं अधिक समृद्ध और सक्षम है। यूरोपीय भाषाओं का शब्दभण्डार हिन्दी की तरह समृद्ध नहीं है। उनमें क्रियारूपों की वह बहुलता नहीं है, जो हिन्दी में है। हिन्दी सहायक क्रियाओं की बहुलता के कारण जितने प्रकार के अर्थभेदों को प्रकट कर सकती है, उतने प्रकार के अर्थभेद ग्रीक और लैटिन-जैसी पुरानी तथा अंग्रेज़ी, जर्मन और फ्रेंच-जैसी आधुनिक भाषाओं में भी प्रकट नहीं किए जा सकते। उनका यह विश्वास *बाइबिल* के ग्रीक और लैटिन पाठों के हिन्दी अनुवाद के क्रम में और भी दृढ़ हो जाता है।

इस प्रसंग में उनका यह उल्लेख भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि जर्मन और फ्रेंच—जैसी समर्थ भाषाओं की तुलना में हिन्दी की व्याकरणिक संरचना कहीं अधिक सुनिश्चित और वैज्ञानिक है, "जर्मन और फ्रेंच में बहुवचन बनाने के नियमों में

1. "हिन्दी बहुत व्यापक भाषा है। इसका एक ऐसा सरल-स्वाभाविक रूप है, जो दूर-दूर तक फैला हुआ है। हाल में मेरे एक मित्र ने कार से यूरोप-भारत की यात्रा की है। उन्होंने कहा कि पश्चिम अफ़गानिस्तान के हेरात में भी हिन्दी या हिन्दुस्तानी से आसानी से काम चल सकता है। पिछली शताब्दी में, 1850 ई. में, एक अंग्रेज़ ने लिखा था कि लोग गुजरात से इरावती और हिमालय से कन्याकुमारी तक हिन्दी समझते हैं।"—आलोचना 75, पृ. 17.

बहुत-से अपवाद हैं। इसके अतिरिक्त फ्रेंच के क्रियारूपों में बहुत जटिलता है, जबकि हिन्दी के शब्दरूप और क्रियारूप, दोनों सरल हैं और तत्सम्बन्धी नियमों में अपवाद नहीं के बराबर हैं।" (वही, पृ. 249)

हिन्दी के साथ यूरोपीय भाषाओं की इस तुलना का महत्त्व यह है कि यह किसी हीनताग्रन्थि की प्रतिक्रिया या राष्ट्रीय अस्मिता के स्फीत बोध से प्रेरित भारतीय द्वारा नहीं, बल्कि एक बहुभाषाविद् यूरोपीय द्वारा प्रस्तुत हुई है। इस तुलना का एक महत्त्व यह भी है कि यह उस व्यक्ति के दीर्घ और वस्तुनिष्ठ अनुभवों पर आधारित है, जो एक साथ कई भाषाओं में लिखता रहा है और जिसे यूरोपीय भाषाओं की महिमा का किसी अन्य यूरोपीय से कम बोध नहीं है। इसका एक महत्त्व यह भी है कि यह हिन्दी या किसी भारतीय भाषा में लिखनेवालों के मन में बद्धमूल कर दी गई हीनताग्रन्थि से उसे मुक्त करता है।

डॉ. बुल्के के अनुसार, अपने उपलब्ध साधनों और अन्तर्भूत क्षमता के कारण, हिन्दी पूरे भारत की योजक भाषा बनने में पूर्णतः समर्थ है। यह आशंका निर्मूल है कि यह अंग्रेज़ी का स्थान नहीं ले सकती या कि इसे अंग्रेज़ी की जगह केन्द्रीय सम्पर्क भाषा बना देने पर शिक्षा का स्तर गिर जाएगा और राष्ट्र की एकता शिथिल होगी। सच तो यह है कि शिक्षा के माध्यम के रूप में विदेशी भाषा का उपयोग राष्ट्र के बौद्धिक विकास में अवरोध उत्पन्न करता है। आज संसार भर के शिक्षाशास्त्री इस बात पर बल देने लगे हैं कि बालक का स्वाभाविक मानसिक विकास मातृभाषा के माध्यम से ही सम्भव है। अतएव प्रारम्भिक शिक्षा के लिए विदेशी भाषा का उपयोग अनुचित और अवैज्ञानिक है। उनकी यह धारणा राष्ट्र-नेताओं, संस्कृति-चिन्तकों और शिक्षाशास्त्रियों द्वारा बारम्बार सम्पुष्ट हुई है। महात्मा गाँधी, डॉ. राममनोहर लोहिया, न्गुगी वा योंगो आदि के विचारों का इस प्रसंग में उल्लेख किया जा सकता है। हमारे देश का जो सुविधाभोगी बुद्धिजीवी वर्ग अन्ध भाव से अंग्रेज़ी का समर्थन करता रहा है, वह यह नहीं समझता कि यह भाषा देश के बौद्धिक विकास और एकात्मकता में सबसे बड़ी बाधा बन गई है। इस वर्ग के सामने राष्ट्रीय गौरव या आम भारतीय आदमी-जैसी किसी बात का कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व केवल अंग्रेज़ी के माध्यम से प्रशासन तन्त्र पर अपने वर्ग के नियन्त्रण की निरन्तरता का है।

किन्तु राष्ट्रीय जीवन में विदेशी भाषा के वर्चस्व के विरोध का अर्थ यह नहीं कि फ़ा. बुल्के अंग्रेज़ी भाषा की जानकारी के विरोधी हैं, "किसी भी ज्ञान का बहिष्कार, किसी भी भाषा की जानकारी का विरोध अभारतीय है। अंग्रेज़ी भाषा नहीं जानना और इस अज्ञान पर गौरव करना मूर्खता है, किन्तु अपनी भाषा पर अधिकार नहीं रखना, अपने देश की भाषाएँ ठुकराकर विदेशी भाषा में ही किसी विषय पर विचार-विमर्श कर सकना...क्या यह भारत-जैसे प्राचीन गौरवमय अतीतवाले देश के स्वाभिमान पर आघात नहीं करता?" (*मन्थन*; पृ. 257)

इस प्रसंग में फ़ा. बुल्के की स्थिति बहुत स्पष्ट है। वे अपने निबन्धों में इस बात पर बल देते हैं कि हिन्दी का विरोध देश की एकता का विरोध है। इसी शीर्षक के अपने एक साक्षात्कार में (बुल्के शोध संस्थान की टंकित पाण्डुलिपि) वे यह कहते हैं कि "अंग्रेज़ों ने सायास हिन्दी का प्रचार नहीं होने दिया, क्योंकि वे जानते थे कि इस भाषा के प्रचार से लोगों के बीच एकता बनी रहेगी। (पृ. 1) ... मैं स्वयं को हिन्दी-भाषी ही समझता हूँ और सचमुच हिन्दी-भाषियों की हिन्दी के प्रति उदासीनता देखकर मुझे लज्जा आती है। मेरी समझ में नहीं आता कि हिन्दी-प्रान्तों की जनता, अंग्रेज़ी माध्यम से शासन किस प्रकार बर्दाश्त कर रही है।" (पृ. 3)

वे यह अनुभव करते हैं कि यदि हिन्दी अब भी अंग्रेज़ी को अपदस्थ नहीं कर सकी है, तो इसका एक बड़ा कारण इसके प्रति व्याप्त हीनताग्रन्थि है। इस हीनताग्रन्थि से मुक्त हुए बिना हिन्दी की प्रतिष्ठा का लोक अभियान सम्भव नहीं है। अतः वे इसकी वर्तमान उपलब्धियों का उल्लेख करते हुए इसकी सामर्थ्य-सम्बन्धी आशंकाओं को निरस्त करने का प्रयत्न करते हैं।

उनके अनुसार, हिन्दी की तीन ऐसी उपलब्धियाँ हैं, जो इसे विशिष्ट बनाती हैं। वे हैं—(क) अन्य सभी भारतीय भाषाओं की तुलना में अधिक संख्या में ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी उपयोगी साहित्य की उपलब्धता;[1] (ख) संस्कृत की समस्त श्रेष्ठ रचनाओं का अनुवाद और (ग) सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य का बड़ी संख्या में अनुवाद। इसके विस्तृत उपयोगी साहित्य ने इसे इस योग्य बना दिया है कि इसमें उच्चतर कक्षाओं तक अध्यापन सम्भव है। इसमें विभिन्न विज्ञानों की आधारभूत संकल्पनाओं को अभिव्यक्त करनेवाली पारिभाषिक शब्दावली उपलब्ध है, जिसके आधार पर नवीनतम वैज्ञानिक साहित्य का विकास सरल है। यह सच है कि इस पारिभाषिक शब्दावली में बहुत-से शब्द अंग्रेज़ी के हैं, लेकिन यदि ऐसा है, तो सहज स्वाभाविक है; क्योंकि "दुनिया भर की भाषाओं के शब्दभण्डार में बहुसंख्यक विदेशी शब्द हैं।" (*मन्थन*, 253) किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि "हिन्दी की पारिभाषिक शब्दावली का सबसे बड़ा स्रोत संस्कृत ही होगी, जो यूनानी (यानी ग्रीक) भाषा की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध है।" (वही, पृ. 259) वे यह नहीं कहते कि पारिभाषिक प्रयोजनों से निर्मित सभी शब्द प्रयोग में बने रहेंगे, बल्कि "जो शब्द कृत्रिम हैं, वे अपने आप विलुप्त हो जाएँगे।" (वही, पृ. 253)

---

1. इसके साक्ष्य के रूप में डॉ. बुल्के 1967 ई. में भारत सरकार के 'वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग' की भारतीय भाषाओं में उपलब्ध विश्वविद्यालय स्तर की पाठ्यपुस्तकों की प्रदर्शनी की चर्चा करते हैं। प्रदर्शनी में इस प्रकार की 5000 पुस्तकें थीं, "उनमें से लगभग 3500 पुस्तकें हिन्दी ही की थीं और शेष डेढ़ हज़ार अन्य भारतीय भाषाओं की। ... इन आँकड़ों से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी की स्थिति सबसे अधिक सन्तोषजनक है।" (जीवाजी विश्वविद्यालय दीक्षान्त अभिभाषण, 29-2-1968, पृ. 5).

संस्कृत साहित्य की प्रायः सभी उपयोगी और श्रेष्ठ कृतियों एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं की उल्लेख्य रचनाओं के हिन्दी अनुवाद की उपलब्धता का अर्थ यह है कि जो संस्कृत नहीं जानते, वे केवल हिन्दी के माध्यम से उसके समस्त श्रेष्ठ साहित्य की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं अथवा जो अपनी भाषा से इतर किसी या किन्हीं भारतीय भाषाओं की जानकारी नहीं रखते, किन्तु हिन्दी जानते हैं, वे उनकी प्रतिनिधि रचनाओं की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। हिन्दी की यह विशेषता इसे भारतीय मनीषा की कुंजी और समस्त आधुनिक भाषाओं की योजक कड़ी बना देती है।

अपनी संरचनात्मक सरलता और वैज्ञानिकता, निरन्तर बढ़ती लोकप्रियता और विस्तार, संवैधानिक स्थिति और क़ानूनी बाध्यता के कारण बढ़ते प्रशासनिक उपयोग, शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर माध्यम के रूप में उपयोग के लिए उपलब्ध अपेक्षित पाठ-सामग्री तथा उपयोगी साहित्य और अनुवाद-सम्बन्धी कार्यों के उल्लेख्य परिमाण के बावजूद आज भी हिन्दी का विरोध बना हुआ है। यह विरोध एक ओर अंग्रेज़ी-परस्तों की ओर से बढ़ा है, तो दूसरी ओर अहिन्दीभाषी क्षेत्रों में अब भी किसी सीमा तक मौजूद है। अहिन्दीभाषी क्षेत्रों में हिन्दी विरोध का कारण यह आशंका है कि शिक्षा और प्रशासन की माध्यम भाषा के रूप में हिन्दी के कार्यान्वयन से अन्य भारतीय भाषाओं का विकास अवरुद्ध हो जाएगा। फ़ा. बुल्के इस आशंका को निराधार मानते हैं; क्योंकि "हिन्दी दूरवर्ती भविष्य में भी गुजराती, मराठी, बंगाली, तमिल आदि का स्थान नहीं ले सकती। हिन्दी उन प्रान्तों में अन्य देशवासियों के साथ सम्पर्क के माध्यम के रूप में ही रहेगी, जिस तरह अब शिक्षित लोगों में अंग्रेज़ी सम्पर्क की भाषा है।" (*मन्थन*, पृ. 258) इस प्रकार की आशंका का एक आधार यह धारणा भी है कि जिस रूप में हिन्दी आगे बढ़ रही है, उसे देखते हुए यह पूरे देश में शिक्षा का एकमात्र माध्यम बन जाएगी। हिन्दी के केन्द्रीय और अखिल भारतीय महत्त्व के कारण हिन्दीतर क्षेत्रों के लोग उसी तरह हिन्दीपरस्त हो जाएँगे, जिस तरह आज हिन्दी और अहिन्दी, दोनों क्षेत्रों के लोग अंग्रेज़ीपरस्त होते जा रहे हैं। फ़ा. बुल्के के अनुसार इस आशंका को निर्मूल करना ज़रूरी है। वे कहते हैं कि पूरे देश में स्नातक स्तर तक माध्यम भाषा के रूप से मातृभाषाओं का ही व्यवहार किया जाना चाहिए। यद्यपि स्नातक स्तर पर भी हिन्दी का अन्तरप्रान्तीय उपयोग राष्ट्र की भावात्मक और वैदुषिक एकता के लिए श्रेयस्कर है, किन्तु "इस स्तर के लिए भाषा चुनाव की स्वतन्त्रता अहिन्दी प्रान्तों को मिलनी चाहिए, साथ ही केन्द्रीय प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम का निर्णय भी अहिन्दी नागरिकों पर ही छोड़ना उचित होगा।" ('हिन्दी का विरोध : देश की एकता का विरोध है'; टंकित पाण्डुलिपि, पृ. 1)

जैसे-जैसे हिन्दी के व्यापक व्यवहार से इसकी स्थिति स्पष्ट होने लगेगी, वैसे-वैसे इसके विषय में व्याप्त आशंकाएँ स्वतः निर्मूल हो जाएँगी। स्वयं इसका आचरित रूप इस बात का साक्ष्य बन जाएगा कि इसकी भूमिका हिन्दीतर भाषाओं की

स्थानापन्न भाषा की नहीं, बल्कि योजक भाषा की है। डॉ. बुल्के का विश्वास है कि आज पूरे भारत में इतनी राष्ट्रीय चेतना है कि हिन्दी के अखिल भारतीय व्यवहार को सुदृढ़ करने में देश के अन्य भाषाभाषियों का भी सहयोग मिलेगा; किन्तु इससे सम्बन्धित कुछ ऐसी बुनियादी शर्तें हैं, जिन्हें पूरा करने पर ही हिन्दी अंग्रेज़ी का स्थान ले पाएगी।

उनके अनुसार, पहली शर्त यह है कि स्वयं हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी का सम्मान और अंग्रेज़ी के विकल्प के रूप में कार्यान्वयन हो।

वस्तुस्थिति यह है कि स्वयं हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी का सम्मान नहीं है। हिन्दी के मार्ग में बाधक मानी जानेवाली अंग्रेज़ीपरस्ती सबसे अधिक इन्हीं में है। जहाँ अन्य भाषाभाषी क्षेत्र अपनी-अपनी भाषा पर गर्व करते और सूचनापट्टों पर मुख्यतः स्वभाषा और स्वलिपि का व्यवहार करते हैं, वहाँ हिन्दी भाषी राज्यों में अधिकतम सूचनापट्ट अंग्रेज़ी के होते हैं। विश्व हिन्दी सम्मेलन (1975 ई.) में आए एक विदेशी विद्वान् ने इन्हीं सूचनापट्टों के कारण डॉ. बुल्के से यह कहा कि "बहुत-सी सड़कों पर उन्हें ऐसा लगा कि वे इंग्लैण्ड के किसी नगर का पर्यटन कर रहे हैं।" (*मन्थन*, पृ. 257) एक बात और। जहाँ यूरोपीय देशों में प्रत्येक विषय के छात्रों से भाषा की शुद्धता की अपेक्षा की जाती है, और भाषा की भूलों के लिए अंक घटाये जाते हैं, वहाँ हमारे देश में "विश्वविद्यालय के अधिकांश छात्र हिज्जे की भद्दी भूलें किए बिना अपनी भाषा में दस पंक्तियाँ तक नहीं लिख सकते हैं।" (अखिल भारतीय साहित्यकार सम्मेलन, कानपुर, 1967 ई. का अध्यक्षीय भाषण)

वस्तुतः अन्य भाषाभाषी क्षेत्रों में हिन्दी की प्रतिष्ठा तब तक सम्भव नहीं है, जब तक स्वयं हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी की प्रतिष्ठा नहीं हो जाती। इसके लिए हिन्दीभाषी क्षेत्र को अंग्रेज़ी के मोह से मुक्त होना होगा और यह अनुभव करना होगा कि सार्वजनिक जीवन में अंग्रेज़ी का प्रयोग न केवल हमारे राष्ट्रीय स्वाभिमान का विरोधी है, वरन् हमें विश्वभर में उपहास का विषय बनाता है। फ़ा. बुल्के के सम्पर्क में आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता था कि वे हिन्दीभाषियों से केवल हिन्दी में बात करते थे। वे हिन्दी में अंग्रेज़ी शब्दों के घालमेल के विरोधी थे। इस प्रकार के घालमेल से हिन्दी कितनी हास्यास्पद हो जाती है, इसका उल्लेख वे स्वयं करते हैं, "एक दिन मैंने इलाहाबाद की किसी दुकान पहुँचने पर देखा कि दुकान दिन में बन्द की जा रही है। कारण पूछने पर यह उत्तर मिला—प्रोपराइटर के ब्रदर की वाइफ़ की डेथ हो गई है।" (*मन्थन* पृ. 257)

फ़ा. बुल्के हिन्दी के शुद्ध रूप की प्रतिष्ठा के विचार से भाषा-शिक्षण के वर्तमान स्वरूप में परिवर्तन आवश्यक मानते हैं। वे उच्च विद्यालय स्तर तक केवल खड़ीबोली का साहित्य पढ़ाने का प्रस्ताव रखते हैं। इस सम्बन्ध में उनका प्रमुख तर्क यह है कि जब विद्यार्थी खड़ीबोली से पहले का साहित्य पढ़ते हैं और उनका सामना

डिंगल, ब्रज, मैथिली, अवधी आदि हिन्दी भाषाओं से होता है, तो उनमें एक ही शब्द के कई-कई हिज्जे मिलते हैं। इससे "उनके मन में यह विश्वास घर कर जाता है कि हिज्जे की अबाध स्वतन्त्रता हिन्दी की एक बड़ी सुविधाजनक विशेषता है।" (जीवाजी वि.वि. का दीक्षान्त भाषण, पृ. 6) इससे उनके मन में भाषा के मानक रूप का बिम्ब नहीं बन पाता। हिन्दी पाठ्यक्रम के पुनर्संयोजन के प्रस्ताव का अर्थ यह नहीं कि फ़ा. बुल्के हिन्दी के उस श्रेष्ठ साहित्य की अवहेलना करना चाहते हैं, जो इसकी बोलियों में लिखा गया है और जिसके कारण ही इसको लोकव्यापी महिमा मिली है। उनके इस प्रस्ताव का अर्थ यह है कि यह साहित्य उच्चतर यानी महाविद्यालय और विश्वविद्यालय स्तर के पाठ्यक्रमों में पढ़ाया जाए, क्योंकि इस स्तर तक पहुँचनेवाले विद्यार्थियों का बौद्धिक विकास हो चुका होता है और वे खड़ीबोली से डिंगल, ब्रजभाषा आदि का भेद कर सकते हैं। वे यह भी कहते हैं कि आज जो हिन्दी अन्तरप्रान्तीय स्तर की संवैधानिक भाषा है, वह खड़ी बोली है। अतः अन्य भाषाभाषी विद्यार्थियों के लिए, जो केवल हिन्दी साहित्य पढ़ने के लिए नहीं, बल्कि विभिन्न ज्ञानविषयों और केन्द्र सरकार की भाषा के रूप में हिन्दी सीखते हैं, उनके लिए खड़ी बोली से इतर हिन्दी बोलियों का साहित्य पढ़ने की अनिवार्यता नहीं होनी चाहिए। जो अन्य भाषाभाषी प्रधान विषय के रूप में हिन्दी पढ़ना चाहेंगे, स्वयं इसका प्राचीन और आधुनिक, दोनों साहित्य पढ़ेंगे।

स्वाभाविक है, उपर्युक्त आधार पर वह प्रचलित हिन्दी कोशों से भिन्न एक ऐसे कोश की आवश्यकता पर बल देते हैं, जो केवल खड़ीबोली का हो। (वही)

फ़ा. बुल्के हिन्दी क्षेत्र की बोलियों को दिए जानेवाले महत्त्व से चिन्तित है। इस सम्बन्ध में उनका विचार यह है कि इससे हिन्दी क्षेत्र की एकता विपरीत रूप में प्रभावित होगी, "आजकल हिन्दी की बोलियों के आधार पर हिन्दी क्षेत्र की एकता भंग करने का जो योजनाबद्ध आन्दोलन चल रहा है, वह घातक सिद्ध हो सकता है।" (*मन्थन*, पृ. 256) वे कहते हैं कि बाङ्ला, मराठी आदि क्षेत्रों में भी अनेकानेक बोलियाँ बोली जाती हैं, लेकिन बाङ्ला या मराठीभाषी इन्हें महत्त्व देने की बात नहीं करते; क्योंकि वे यह जानते हैं कि ऐसा करने से उनकी भाषिक-सांस्कृतिक एकता ख़तरे में पड़ सकती है। वह यूरोप का उदाहरण देते हुए यह कहते हैं कि जर्मन आदि भाषाएँ बोलनेवाले प्रत्येक क्षेत्र में कई-कई बोलियाँ हैं, किन्तु वहाँ केवल परिनिष्ठित जर्मन (या फ्रेंच) सिखलायी जाती है और "वही भाषा समस्त सांस्कृतिक, सार्वजनिक तथा साहित्यिक जीवन वहन करती है।" (जीवाजी वि.वि. दीक्षान्त अभिभाषण, पृ. 6)

किन्तु इन सारी आशंकाओं के बावजूद डॉ. बुल्के का विश्वास यह है कि निकट भविष्य में हिन्दी भारत की एकमात्र निर्विकल्प भाषा बन जाएगी। उनके इस आशावाद के कई आधार हैं। उनका हिन्दी के साथ-साथ अन्य भाषाभाषी भारतीय जनता की राष्ट्रीय चेतना और सद्भाव पर पूरा भरोसा है। उनका भरोसा इस बात पर

भी है कि हिन्दी क्षेत्र अंग्रेज़ी के स्थान में हिन्दी भाषा को सामाजिक व्यवहार, शिक्षा और प्रशासन की एकमात्र भाषा के रूप में अपनाएगा। अभी भले ही अंग्रेज़ी माध्यम स्कूलों की बढ़ती हुई संख्या और हिन्दी माध्यम स्कूलों के प्रति बढ़ती हुई उपेक्षा के कारण हिन्दी का भविष्य धूमिल और संकटग्रस्त लग रहा हो, वस्तुस्थिति यह है कि सही अंग्रेज़ी जाननेवाले लोगों का प्रतिशत एक से भी नीचे है, "हमें यह बोध भी होना चाहिए कि अंग्रेज़ी के प्रचार के बावजूद अंग्रेज़ी का ज्ञान कम होता जा रहा है। आज भारत में एक प्रतिशत लोग भी सही अंग्रेज़ी नहीं जानते। मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिन्दी के विरोध के बावजूद अंग्रेज़ी समाप्त हो जाएगी।" (आलोचना 75, पृ. 18)

स्वयं अन्य भाषाभाषी प्रदेशों में स्वभाषा की चिन्ता जिस रूप में बढ़ रही है, वह अंग्रेज़ी की निरन्तरता के विपरीत पड़ती है। इसलिए यदि हिन्दी का कार्यान्वयन बढ़ेगा और हिन्दी क्षेत्र में यह भाषा निष्ठा से लागू की जाएगी, तो अन्तरप्रान्तीय और अन्तरभाषिक सेतुबन्धन की भाषा के रूप में हिन्दी का महत्त्व स्वतः बढ़ जाएगा।

लेकिन मुख्य बात यह है कि हिन्दी सबसे पहले तो हिन्दी क्षेत्र में लागू हो। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक इसकी अखिल भारतीय प्रतिष्ठा की बात करना निरर्थक है। प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन, नागपुर (1975 ई.) में संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषा के रूप में हिन्दी को मान्यता दिलाने का प्रस्ताव स्वीकार किया गया था। इस अवसर पर फ़ा. बुल्के ने कहा था कि जब तक हम स्वयं अपने देश में हिन्दी को लागू नहीं करते, तब तक यह सोचना ग़लत है कि यह संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषाओं में स्थान पाएगी। (वही, पृ. 18)

इस प्रकार, डॉ. बुल्के के अनुसार, हिन्दी के विकास और प्रतिष्ठा के तीन चरण हैं—(क) हिन्दी प्रदेशों में प्रतिष्ठा, (ख) केन्द्र और देश के विभिन्न प्रदेशों की माध्यम भाषा के रूप में प्रतिष्ठा और (ग) विश्व भाषा के रूप में प्रतिष्ठा। ये तीनों परस्पर तार्किक रूप से सम्बद्ध और क्रमिक हैं।

□

8

ईसाई और हिन्दू धर्म तथा भारतीयता

डॉ. कामिल बुल्के के लेखन का एक भाग ईसाई धर्म, हिन्दू धर्म और भारतीयता से सम्बन्ध रखता है। यह भाग परिमाण की दृष्टि से बहुत बड़ा नहीं है, लेकिन इतना गौण भी नहीं है कि इसकी उपेक्षा की जा सके। एक श्रद्धालु ईसाई संन्यासी के नाते उन्होंने लम्बे समय तक अपने धर्म का अनुशीलन किया था। ड्रांगेन के नवशिष्यालय से लेकर वाल्केनबर्ग और कर्सियांग के धर्मविज्ञान संस्थानों में उन्होंने अपने धर्म के अतिरिक्त यूरोपीय और भारतीय दर्शनों तथा तुलनात्मक धर्म-विज्ञान का अध्ययन किया था। उन्हें डॉ. साल्समैन, डॉ. वोल्कार्ट और डॉ. बायार्त-जैसे विश्वप्रसिद्ध गुरुओं का सान्निध्य मिला था। *बाइबिल* के नियमित पाठ और समय-समय पर गिरजाघरों में धार्मिक प्रवचन उनके जीवन के अंग थे। इसलिए स्वाभाविक है कि आवश्यक होने पर उन्होंने अपने धर्म की व्याख्या और तत्त्वनिरूपण के रूप में ढेर-सारी टिप्पणियाँ तथा कई वार्ताएँ और निबन्ध लिखे हैं। ये टिप्पणियाँ हिन्दी विश्वकोश और 'नया विधान' की प्रविष्टियों के रूप में तैयार की गई हैं। आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से प्रसारित उनकी आठ वार्ताओं का उल्लेख *डॉ. बुल्के स्मृति-ग्रन्थ* (पृ. 146-147) में मिलता है, लेकिन उनमें केवल दो वार्ताएँ उपलब्ध हैं—'ईसाई धर्म' (आकाशवाणी, गौहाटी, 17-2-1971) और 'भारतीय जीवन, संस्कृति और विकास में ईसाइयों की देन' (आकाशवाणी, राँची, 4-12-1964)। उनका एक निबन्ध 'मैं क्रिसमस के दिन क्या सोचता हूँ' 'धर्मयुग' के 24 दिसम्बर, 1972 ई. के अंक में प्रकाशित हुआ है। इन सबके आधार पर ईसाई धर्म-सम्बन्धी उनके प्रमुख विचारों का उल्लेख किया जा सकता है।

फ़ा. कामिल बुल्के के अनुसार, ईसाई धर्म का विकास यहूदी धर्म के रूढ़िवाद, जड़ कर्मकाण्ड और बाह्याडम्बरों की प्रतिक्रिया में हुआ। इसके प्रवर्तक ईसा ने कभी यह दावा नहीं किया कि वे यहूदी धर्म का खण्डन करने आए हैं, बल्कि यह कहा कि वे इसके नबियों की संहिता को पूरा करने आए हैं, "यह न समझो कि मैं संहिता अथवा नबियों के लेखों को रद्द करने आया हूँ। मैं उन्हें रद्द करने नहीं, बल्कि पूरा करने आया हूँ।" (सन्त मत्ती : 5, 17) वस्तुतः ईसा के स्वर्गारोहण के बहुत समय बाद तक ईसाई अपने को यहूदी ही मानते थे, लेकिन तीसरी शताब्दी में उन्होंने अपने धर्म को यहूदी धर्म से पृथक् धर्म के रूप में मान्यता दी। फिर भी, "ईसाई तथा यहूदी धर्म

में इतना गहरा सम्बन्ध है कि ईसाई धर्म को समझने के लिए यहूदी धर्म का ज्ञान अनिवार्य है।" (डॉ. बुल्के का *नया विधान* : अनुक्रमणिका, पृ. 730) इसका प्रमाण यह है कि *बाइबिल* का पूर्वार्ध पुराना विधान (ओल्ड टेस्टामेण्ट), जो यहूदियों का धर्मग्रन्थ है, ईसाइयों का भी धर्मग्रन्थ माना जाता है। इसका कारण यह है कि ईसाई पुराना विधान में उल्लिखित आनेवाले मसीह के रूप में ईसा को देखते हैं। दोनों धर्मों के विश्वासों में कई समानताएँ हैं। दोनों एकेश्वरवादी हैं। दोनों ईश्वर को अनादि, अनन्त, विश्व का स्रष्टा और न्यायकर्ता मानते हैं। दोनों पुराना विधान में वर्णित सृष्टि-प्रकरण में समान रूप से विश्वास करते हैं। लेकिन दोनों में ऐसे भेद भी हैं जो बुनियादी तौर पर दोनों को अलग कर देते हैं। यहूदी अवतारवाद के घोर विरोधी हैं। किन्तु एकेश्वरवादी होने के बावजूद ईसाई यह मानते हैं कि ईसा ईश्वर के अवतार हैं, "ईसाइयों का मूलभूत विश्वास है कि ईश्वर मनुष्य जाति के पापों का प्रायश्चित्त करने तथा मनुष्यों को मुक्ति के उपाय दिलाने के उद्देश्य से ईसा में अवतरित हुआ।" (*हिन्दी विश्व-कोश*, पृ. 37)

ईसाई अवतारवाद की विशेषता यह है कि यह ईसा को ईश्वर का एकमात्र अवतार मानता है; न उनके पहले कोई अवतार हुआ, न उनके बाद कोई अवतार होगा। ईसा में ईश्वर के अवतार लेने का कारण यह है कि वह मानव जाति को उसके मूल पुरुष आदम द्वारा किए गए पाप से मुक्त करना चाहता था। ईसाई इस पाप को आदिपाप कहते हैं। *बाइबिल* के पूर्वार्ध पुराना विधान में आदम और हव्वा द्वारा किए गए पाप का उल्लेख है, लेकिन यहूदी धर्म में इस पाप को वह महत्त्व नहीं दिया गया है, जो ईसाई धर्म में। नया विधान के अनुसार इस पाप से समस्त मानव जाति बँध गई थी। ईश्वर मानव जाति से इतना अधिक प्यार करता है कि उसने उसके उद्धार के लिए ईसा के रूप में अपने एकलौते पुत्र को भेजा और उन्होंने सलीब पर अपना बलिदान कर अपने रक्त से मानवता के पापों का प्रायश्चित्त किया।

ईसा को ईश्वर का अवतार मानने के कारण ईसाई कुँवारी मरियम द्वारा उनके निष्कलंक गर्भाधान में विश्वास करते हैं। जैसा कि सन्त योहन (1, 13) में कहा गया है, "वे न तो रक्त से, न शरीर की वासना से, और न मनुष्य की इच्छा से, बल्कि ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं।" (फ़ा. बुल्के का *नया विधान*, पृ. 234)

निष्कलंक गर्भाधान की तरह ईसाई धर्म की तीन अन्य महत्त्वपूर्ण और मौलिक धारणाएँ हैं—त्रित्व, पुनरुत्थान और पुनरागमन। त्रित्व या त्रिएक (ट्रिनिटि) की धारणा इतनी जटिल और दुरूह है कि इसे तर्कबुद्धि से नहीं, बल्कि आस्था द्वारा ही समझा जा सकता है। डॉ. बुल्के के अनुसार, "ईसाई धर्म का केन्द्रीय तथा गूढ़तम धर्मसिद्धान्त ईश्वर के आभ्यन्तर स्वरूप से सम्बन्धित है जिसे 'ट्रिनिटि' या त्रित्व कहते हैं। त्रित्व का अर्थ है कि एक ही ईश्वर में तीन व्यक्ति हैं—पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा (फ़ादर, सन एण्ड होली गोस्ट)। ये तीनों समान रूप से अनादि, अनन्त और सर्वशक्तिमान हैं, क्योंकि वे तत्त्वतः एक हैं।" (*हिन्दी विश्वकोश*, पृ. 455)

त्रित्व की तरह ही जटिल पुनरुत्थान की धारणा है। ईसाई यह विश्वास करते हैं कि क्रूस पर चढ़ाये जाने के तीसरे दिन ईसा पुनर्जीवित हो गए। न केवल ईसा ने सुसमाचार में इसकी भविष्यवाणी की है, बल्कि उनके शिष्यों ने भी इसका साक्ष्य दिया है। शिष्यों ने इस बात का भी साक्ष्य दिया है कि पुनर्जीवित होने के बाद वे तीन बार प्रकट हुए और सबके देखते-देखते स्वर्ग में सशरीर आरोहित कर लिए गए, "आशीष देते-देते वह उनकी आँखों से ओझल हो गए और स्वर्ग में आरोहित कर लिए गए।" (फ़ा. बुल्के का *नया विधान*, पृ. 231)

पुनरुत्थान की तरह पुनरागमन भी ईसाई जीवन का एक बड़ा आधार है, "ईसा ने बार-बार इस रहस्य का उद्‌घाटन किया कि मानव-पुत्र संसार के अन्त में महिमा के साथ प्रकट हो जाएगा, मृतकों को जिलाएगा, समस्त मानव जाति का न्याय करेगा और ईश्वर के राज्य को अन्तिम रूप में प्रस्तुत करेगा।" (*नया विधान*, डॉ. बुल्के की अनुक्रमणिका; पृ. 703)

किन्तु धर्म के इतिहास में ईसाई धर्म ने जिन कारणों से अपनी विशेष पहचान बनायी है, वे कारण मानव समता, सेवा और प्रेम के सिद्धान्त और उनका आचरण हैं। वस्तुतः ये ही वे बिन्दु हैं, जो व्यवहार के स्तर पर ईसाइयत को यहूदी धर्म से अलग कर देते हैं। यहूदी यह मानते हैं कि वे प्रभु की सबसे प्रिय सन्तति और उसकी चुनी हुई प्रजा हैं। संसार की अन्य सब जातियाँ उनसे छोटी यानी हीनतर हैं। यहूदी यहूदी है, कोई लाख यत्न कर भी यहूदी नहीं हो सकता; क्योंकि यहूदी जन्मना यहूदी है। इसके विपरीत, ईसा ने यह प्रतिपादित किया कि सभी मनुष्य ईश्वर की सन्तति हैं और उनमें कोई भेद नहीं है। सब एक हैं, सब बराबर हैं और सब ईश्वर की कृपा और मुक्ति के समान रूप से सहभागी हैं। जहाँ ईसा के युग में यहूदी ग़ैर-यहूदियों के साथ छुआछूत का व्यवहार करते थे और कर्मकाण्ड के पालन को ही धार्मिकता मानते थे, वहाँ ईसा ने मानव जाति की एकता और समता के प्रतिपादन द्वारा मनुष्य की सेवा और प्रेम को सर्वोच्च धार्मिक मूल्य निरूपित किया। मनुष्य की सेवा ही ईश्वर की पूजा है। सच्चा धर्म प्रतिशोध नहीं, बल्कि क्षमा है; जाति और धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं, बल्कि सबको प्रभु की सन्तान मानकर दुःखी-दरिद्र के प्रति करुणा और उसकी सहायता है। ईश्वरीय तत्त्व का सार प्रेम है, "ईश्वर प्रेम है जो प्रेम में बना रहता है, वह ईश्वर में और ईश्वर उसमें निवास करता है।" (सन्त योहन का पत्र : 4, 15)

इस विषय का विवेचन करते हुए फ़ा. बुल्के यह कहते हैं, "ईश्वर ने नैतिक नियमों को मनमाने ढंग से निर्धारित नहीं किया। उनमें एक मौलिक एकता है अर्थात् मनुष्य मात्र का प्रेम जिसके अभाव में हमारी भगवद्‌भक्ति व्यर्थ है। ईश्वर ने ऐसा क्यों किया? इस प्रश्न के उत्तर में सन्त योहन *बाइबिल* में लिखते हैं–प्रिय भाइयो! हम एक दूसरे से प्यार करें, क्योंकि प्रेम ईश्वर से उत्पन्न होता है। जो प्यार करता है, वह ईश्वर की सन्तान है और ईश्वर को जानता है। जो प्यार नहीं करता, वह ईश्वर को नहीं जानता, क्योंकि ईश्वर प्रेम है।" (ईसाई धर्म : पाण्डुलिपि, पृ. 11)

फ़ादर बुल्के ने रामकथा और तुलसी साहित्य के विवेचन-क्रम में अवतारवाद, सगुण-निर्गुण, वैष्णव मत, भक्तिदर्शन, राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति आदि विषयों पर विचार किया है। उन्होंने अपने अंग्रेज़ी निबन्धों में हिन्दू धर्म के विकासक्रम, अन्य धर्मों से ईसाई धर्म के साम्य-वैषम्य और अवतारवाद के ऐतिहासिक विकास के साथ ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म के तुलनात्मक पहलुओं पर भी विचार किया है। इन निबन्धों का महत्त्व मात्र वैदुषिक नहीं है। इनका एक महत्त्व यह भी है कि ये एक भिन्न धार्मिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के व्यक्ति द्वारा लिखित हैं और इनसे यह पता चलता है कि वे सामान्य रूप से भारतीय और विशेष रूप से हिन्दू परम्पराओं को किस रूप में देखते हैं। इस क्रम में वह कुछ ऐसे बिन्दुओं का उल्लेख करते हैं, जिनकी ओर सामान्यतः लोगों का ध्यान नहीं जाता है। इस दृष्टि से उनके अवतारवाद-सम्बन्धी 'अवतार एण्ड इनकार्नेशन' और 'एथिक्स एण्ड अवतारवाद' शीर्षक अंग्रेज़ी और 'तुलसीदास और अवतार भावना' शीर्षक हिन्दी निबन्ध का उल्लेख किया जा सकता है।

ईसाई ईसा को मानव देहधारी ईश्वर मानते हैं। इस आधार पर यह धारणा स्वाभाविक है कि वे हिन्दुओं की तरह ही अवतारवादी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह धारणा एक बड़ी सीमा तक सच है; क्योंकि दोनों में कई समानताएँ मौजूद हैं। फ़ा. बुल्के के अनुसार वे समानताएँ हैं--ईश्वर का विश्व में स्वतन्त्र प्रवेश, और इसके बावजूद उसके ईश्वरत्व की अक्षुण्णता, पापियों के अत्याचार और उत्पीड़न और इस प्रकार पाप के बढ़ते बोझ से मानव जाति का उद्धार, साक्षात् विद्यमान सगुण रूपधारी ईश्वर की करुणा और प्रेम से अभिभूत मानव में उसके प्रति उत्पन्न आत्मसमर्पण और भक्ति का संचार तथा मुक्ति। किन्तु इन सारी समानताओं के बावजूद ईसाई और हिन्दू अवतारवाद एक नहीं हैं, "ईसाई अवतारवाद की विशेषता यह है कि ईसा के ईश्वरत्व और मनुष्यत्व, दोनों की ही वास्तविकता पर बल दिया जाता है।" (*हिन्दी विश्वकोश*, पृ. 37) यह बात इससे स्पष्ट है कि हिन्दू, अवतार के रूप में ईश्वर द्वारा मानव देह-धारण को, लीला मानते हैं। वे यह नहीं मानते कि अवतार का मानव शरीर वास्तविक है और वह प्राकृत मानव की तरह जीवन के सामान्य सुख-दुःख अनुभव करता है। साक्ष्य के रूप में फ़ा. बुल्के तुलसी की ये पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं :

"भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु-भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत जन अनुरूप॥
यथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ॥"

"राम ने भक्तों के लिए राजा का शरीर धारण किया और साधारण मनुष्यों-से अनेकों परम पावन चरित्र किए। जैसे कोई नट अनेक वेष धारण कर नृत्य करता है, जैसा वेष होता है उसी के अनुकूल भाव का प्रदर्शन करता है, पर स्वयं उससे अप्रभावित होता है (VII, 72)।" (तुलसीदास और अवतारभावना, *मन्थन*, पृ. 121)

इसके विपरीत, ईसाई अवतारवाद ईसा के मनुष्यत्व को लीला न कहकर वास्तविक मानता है। ईसा के रूप में मनुष्य हो जाने पर ईश्वर ने प्राकृत मनुष्य की तरह सुख-दुःख भोगे और मनुष्यों में से एक बनकर अपने चरित द्वारा मानवता के श्रेष्ठ आदर्शों का निरूपण किया। यदि ईसाई भक्ति का एक आधार ईसा का ईश्वरत्व है, तो दूसरा आधार उनका मनुष्यत्व है।

दोनों में दूसरा अन्तर मुक्ति के स्वरूप का है। ईसा के अवतार का अर्थ है—अनन्त काल के लिए मानव जाति की पापमुक्ति और उसका उद्धार। इसके विपरीत, हिन्दू दर्शन किसी भी अवतार को अन्तिम नहीं मानता। उसके अनुसार, ईश्वर प्रत्येक कल्प में मानव जाति की पाप-मुक्ति और उद्धार के लिए पृथ्वी पर अवतार लेता है।

तीसरा अन्तर अवतार के नैतिक स्वरूप का है। ईसाई और हिन्दू अवतारवाद के इस अन्तर पर फ़ा. बुल्के ने एक पूरे निबन्ध (एथिक्स एण्ड अवतारवाद) में विस्तार से विचार किया है। उनकी मूल स्थापना यह है कि हिन्दू धर्म में अवतार के अतिप्राकृत स्वरूप के कारण उसके आचरण या चरित्र पर सामान्य मानवीय नैतिकता के आधार पर विचार करना उचित नहीं माना जाता है। इसका उदाहरण कृष्णावतार है। कृष्ण की रासलीला का, मानवीय नैतिकता के आधार पर, मूल्यांकन सम्भव नहीं है और उसे लोकमर्यादा से परे बनाने के लिए उसकी एक रूपकात्मक व्याख्या प्रारम्भ हो गई। इस बात का अपवाद रामावतार है। न तो वाल्मीकि और न तुलसी ने राम के मर्यादा पुरुषोत्तम स्वरूप के साथ कोई छूट ली है। उनके राम साक्षात् विग्रहवान धर्म हैं, आदर्शों के आदर्श और सदाचरण की कसौटी।

किन्तु इससे इस बात में कोई अन्तर नहीं आता कि लीला शरीर धारण करनेवाले अवतार पर नैतिकता के सामान्य नियम लागू नहीं होते। इस सन्दर्भ में ईसाई अवतारवाद की स्थिति भिन्न है, क्योंकि उसके अनुसार ईसा का मनुष्यत्व वास्तविक है।

हिन्दू और ईसाई धर्मों का विकास दो भिन्न ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और वैचारिक भूमिकाओं में हुआ है। इसलिए उनमें अन्तर पाया जाना आश्चर्य की बात नहीं है। इसके बावजूद, दोनों में समानताओं का अभाव भी नहीं है। अतः बहुत-से भारतीय ईसाई धर्म को जिस सन्देह की दृष्टि से देखते और विदेशी कहकर आलोचना करते हैं, उस पर पुनर्विचार की आवश्यकता है।

फ़ा. बुल्के यह कहते हैं कि भारत के कई भागों में यूरोपीयों के साथ आने के कारण यह धर्म विदेशी प्रतीत होता है, किन्तु इतिहास यह बताता है कि यूरोप से भी पहले इस धर्म का प्रवेश भारत में हुआ था, "दक्षिण भारत के ईसाइयों का दृढ़ विश्वास है कि ईसा के पट्टशिष्य थोमस ने वहाँ ईसाई धर्म का प्रचार किया था। इस परम्परागत विश्वास के विरोध में कोई प्रामाणिक तर्क प्रस्तुत नहीं किया जा सकता

है और चौथी शताब्दी ई. में दक्षिण भारत में ईसाई धर्म की विद्यमानता के ऐतिहासिक तर्क अवश्य मिलते हैं।" (भारतीय जीवन, संस्कृति और विकास में ईसाइयों की देन, पाण्डुलिपि, पृ. 1)

शताब्दियों तक भारत में विकसित यह धर्म यहाँ के जीवन का अंग बन गया है। बाद में यह जिस यूरोपीय साँचे में आया, वह भी क्रमशः बदलता गया है। आज यह धर्म कुल भारतीय आबादी के तीन प्रतिशत लोगों का धर्म है। देश की संस्कृति, शिक्षा और समाजिक विकास में इसकी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इसके प्रारम्भिक प्रचारकों ने संस्कृत भाषा और भारतीय दर्शन की ओर यूरोप का ध्यान आकर्षित किया, जिससे वहाँ के विश्वविद्यालयों में इनके अध्ययन की परम्परा प्रारम्भ हुई। कई आधुनिक भारतीय भाषाओं के गद्य के विकास में ईसाइयों की भूमिका नगण्य नहीं रही है। उन्होंने ही आधुनिक भारतीय भाषाओं में ज्ञान-विज्ञान की पाठ्यपुस्तकें तैयार की हैं। भारतीय शिक्षा के इतिहास में उनका योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। उन्होंने ही सबसे पहले सह-शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और 1895 ई. में एशिया का प्रथम महिला कॉलेज, लखनऊ में स्थापित किया। उनके द्वारा नैनी में स्थापित कृषि कॉलेज भारत का पहला कृषि कॉलेज है। बुनियादी शिक्षा की रूपरेखा उनके द्वारा स्थापित मोगा (पंजाब) के मिशन स्कूल पर आधारित है। उन्होंने ही प्रथम कुष्ठालय, अनाथालय और सामान्य चिकित्सालय स्थापित किए।

इसलिए ईसाइयों को भारत और भारतीयता-विरोधी कहना अन्यायपूर्ण है। इस प्रकार के आरोपों के सम्बन्ध में फ़ा. बुल्के ने अपनी पीड़ा इस प्रकार प्रकट की है, "हम ईसाइयों को देशप्रेम की शिक्षा दी जाती है। हमें सिखलाया जाता है कि अपने देश के प्रति ईमानदार हुए बिना हम परमात्मा के प्रति ईमानदार हो ही नहीं सकते।" (वही, पृ. 10)

इस प्रकार के आरोप ईसाई धर्म के स्वरूप और आधुनिक भारत के स्वरूप-निर्माण में ईसाइयों के अमूल्य योग से अपरिचय के कारण ही लगाये जाते हैं। इस दिशा में ईसाई और ग़ैर-ईसाई, दोनों पक्षों की ओर से पहल की ज़रूरत है। इसके लिए धार्मिक सद्भाव की दिशा में पहल सबसे अधिक ज़रूरी है। 'धर्मनिरपेक्षता' शीर्षक निबन्ध में फ़ा. बुल्के धार्मिक सद्भाव सुदृढ़ करने के लिए तीन बातों का उल्लेख करते हैं। पहली बात यह है कि "हमें कर्मकाण्ड को कम, धार्मिकता को अधिक महत्त्व देना चाहिए और अपने धर्म की वास्तविक प्रगति करनी चाहिए।" (*मन्थन*, पृ. 238) इसका कारण यह है कि सच्ची धार्मिकता लोगों को जोड़ती है और कर्मकाण्ड लोगों को अलग करता है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अन्य धर्मों का कुछ-न-कुछ अध्ययन करना चाहिए। बहुत सारे भ्रम दूसरे धर्मों से अपरिचय के कारण उत्पन्न होते हैं। हमारे देश की स्थिति यह है कि "भारत के निवासी शताब्दियों से दूसरे धर्मावलम्बियों के साथ रहते हुए भी बहुधा दूसरे धर्मों के विषय में बहुत कम या कुछ नहीं जानते।" (वही) तीसरी बात का सम्बन्ध सीधे-साधे अल्पसंख्यकों से है। वे जिस देश के

नागरिक हैं, उसकी परम्परा-इतिहास और संस्कृति और किसी सीमा तक संस्कृत के महाकाव्यों और ललित साहित्य की जानकारी प्राप्त करना उनका दायित्व है। इस प्रकार वे भारत की धरती की असली सन्तान बनकर भारत की राष्ट्रीय धारा से अलगाव अनुभव नहीं करेंगे।" (वही)

भारतीय संविधान ने धर्मनिरपेक्षता तथा अन्य प्रावधानों द्वारा अल्पसंख्यकों की धार्मिक स्वतन्त्रता की व्यवस्था कर दी है। संविधान के अनुच्छेदों में, इस प्रसंग में, इतनी उदारता है कि उससे अल्पसंख्यकों को तुष्ट रहना चाहिए और "बहुसंख्यकों को समझना चाहिए कि देश की भावात्मक एकता के लिए ये इतने आवश्यक हैं कि इनमें परिवर्तन करने में देश का हित नहीं है।" (वही)

हमारा संविधान ही नहीं, हमारे सामाजिक *मानस* को गढ़नेवाली संस्कृति भी अपने स्वभाव से उदार और बहुसमावेशी है। फ़ा बुल्के 'भारतीयता की मेरी पहचान' शीर्षक निबन्ध में इस पर अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। संक्षिप्त होने के बावजूद यह निबन्ध कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यह मूलतः एक भिन्न सांस्कृतिक-वैचारिक भूमिका में विकसित और आजीवन भारतीय इतिहास, संस्कृति और साहित्य का अनुशीलन करनेवाले व्यक्ति द्वारा किया गया भारतीयता का साक्षात्कार है। यह इसके आधारभूत मूल्यों के निर्देशन का अपने ढंग का प्रयत्न है। किन्तु भारतीयता के अपने इस साक्षात्कार या पहचान के द्वारा इसमें ईसाई धर्म तथा भारतीय ईसाई समाज के स्थान, भूमिका और भविष्य के निर्धारण का भी प्रयत्न हुआ है।

फ़ा. बुल्के के अनुसार, "भारतीयता का अर्थ है–शताब्दियों से चली आ रही भारतीय संस्कृति की सामान्य विशेषताएँ और उसके वे तत्त्व और मूल्य, जो सम्प्रदाय विशेष से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र के लिए हितकारी और प्रेरणादायक हो सकते हैं, जिन पर सभी भारतीय नागरिकों को गर्व होना चाहिए और यदि वे ऐसा करेंगे तो भारत की भावात्मक एकता सुदृढ़ होगी।" (वही, पृ. 231)

इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति, जो भारतीयता का आधार है, बहुत ग्रहणशील और उदार है। इसके जीवन मूल्य सार्वभौम और केवल हिन्दू नहीं, बल्कि अन्य धर्मों के भी अविरोधी हैं। इन मूल्यों का विशिष्ट संयोजन ही विभिन्न धर्मों को पृथक् करता है, किन्तु इसके साथ उनके अपने जीवन विश्वास और धर्माचरण भी हैं, जो उन्हें एक दूसरे से भिन्न बनाते हैं। भारतीयता की कोई भी चर्चा इस बात की उपेक्षा नहीं कर सकती। किन्तु इस बात में कोई अन्तर नहीं आता कि भारतीय संस्कृति अपने स्वभाव से समन्वयशील और उदार है तथा इसमें इतनी विविधता है कि इसमें हर धर्म के लिए स्थान है। डॉ. बुल्के कहते हैं, "मैं यह मानता हूँ कि परम्परागत भारतीय विश्वासों में इतनी उदारता है कि ईसाई धर्म उनमें से एक बन सकता है। स्वयं मैं अपने ढंग से ईसाइयत और भारतीयता के अविरोध का एक छोटा-सा उदाहरण हूँ।"

(आलोचना 75, पृ. 17)

परिशिष्ट

बुल्के साहित्य की सूची

(क) रामकथा

ग्रन्थ

1. *रामकथा : उत्पत्ति और विकास*, हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद, 1950 (मलयाळम् अनुवाद : अभयदेव; साहित्य अकादेमी, त्रिचूर, 1978)
2. *मन्थन* (निबन्ध-संग्रह) : सम्पादक : डॉ. श्रीमती भूपेन्द्र कलसी, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1996

निबन्ध

1. आदिकवि वाल्मीकि का जीवनवृत्त; *राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त अभिनन्दन ग्रन्थ*, 1959
2. रामकथा; *हिन्दी साहित्य कोश*, 1958
3. रामकथा का विकास; संगम, इलाहाबाद, अक्टूबर, 1948
4. रामकथा की दिग्विजय; *इन्दिरा अभिनन्दन ग्रन्थ*, भारतवाणी, 1975
5. रामकथा के सन्दर्भ में भारत और दक्षिणपूर्व एशिया का तादात्म्य सम्बन्ध; *मानस-चिन्तन*, इलाहाबाद, 1978
6. साहित्य में राम के लौकिक और अलौकिक रूप; *रामायण महोत्सव ग्रन्थ*, लखनऊ, 1977
7. रामचन्द क्यों?; छात्र पत्रिका, प्रयाग विश्वविद्यालय रजत जयन्ती अंक, 1948
8. हिन्दी राम साहित्य; *हिन्दी साहित्य कोश*, ज्ञानमण्डल, वाराणसी, 1958
9. रामकाव्य; उपरिवत्
10. रामभक्ति; उपरिवत्
11. रामकथा साहित्य में सीताहरण; हिन्दी अनुशीलन, इलाहाबाद, 1949
12. साहित्य में हनुमान; सन्त ज़ेवियर कॉलेज पत्रिका, राँची, 1959
13. हनुमान् की जन्मकथा; हिन्दी अनुशीलन, इलाहाबाद, (वर्ष 3, अंक 3), 1950
14. हनुमान् के चरित्र-चित्रण का विकास; हिन्दी अनुशीलन, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, 1960
15. रामकथा साहित्य में भरत; ब्रह्मलोक, अगस्त-सितम्बर, 1972
16. कैकेयी का दोष-निवारण; जनभारती, 1954
17. शवरी चरित्र; शबरी : होली विशेषांक, चक्रधरपुर, 1961
18. पुरुषाद सौदास; भारतीय साहित्य : भटनागर अभिनन्दन-ग्रन्थ, वर्ष 5, अंक 2

रेडियो वार्ताएँ

1. वाल्मीकि रामायण की व्यापक भावभूमि; राँची, 8 फ़रवरी, 1965
2. रामकथा का काव्य; इन्दौर, 1973
3. रामकथा के विभिन्न स्रोत; दिल्ली, 11 नवम्बर, 1968
4. विदेशों में रामकथा; दिल्ली, 6 अगस्त, 1973
5. देश-विदेशों में रामकथा; इलाहाबाद, 9 अप्रैल, 1976
6. दक्षिण-पूर्व एशिया में रामकथा; राँची, 23 जून, 1981
7. रामकथाओं में वर्णित राम के विभिन्न रूप; भोपाल, 27 मार्च, 1969
8. साहित्य में हनुमान्; राँची, 19 अगस्त, 1958
9. त्रिजटा-चरित्र; राँची, 25 मार्च, 1961
10. सेतुबन्ध; राँची, 25 अक्टूबर, 1963
11. श्रमशक्ति और एकता का प्रतीक : सेतुबन्ध; राँची, 30 जुलाई, 1973
12. रामकथा मेरे शोध का विषय क्यों? राँची, 31 अगस्त, 1975
13. रामायण के मार्मिक प्रसंग : अन्य विवरण अनुल्लिखित

Book.

1. *The Ramayana of Hinduism : A Course by Letters;* Mangalore, 1958.

Articles

1. About Valmiki; Journal of Oriental Institute, Vol. 8, Dec. 1958.
2. More about Valmiki; ibid, 1959.
3. The Three Recensions of the Valmiki Ramayana; ibid, Vol. 17,1949.
4. The Genesis of the Valmiki Ramayana Recensions; *ibid*, Vol. 5, 1955.
5. The Ramayana : Its History and Character; *The Poona Orientalist* (Silver Jubilee Volume), 1961.
6. Alberuni and the Ramakatha; *Alberuni Commemoration* Vol. I, 1951.
7. The Ramayana Tradition in Asia; Sahitya Akademi, New Delhi, 1980.
8. The Significance of Ramakatha; *Cultural Forum*, Vol. 34, July 1967.
9. La Naissance de Sita, (French); B.E.F. E.O., Vol. 46, No. 1, Nanoi, 1952.
10. The Repudiation of Sita; *Journal of Oriental Research Institute*, Vol. I, 1951.
11. Sita's Friend Trijata; *Indian Antiquary*, Vol. I, No. 1, 1964.

12. An Indonesian Birth Story of Hanuman; *Journal of Oriental Research Institute*, Vol. 3, 1955.
13. The Characterization of Hanuman; *Journal of Oriental Research Institute*, Vol. 9, 1960.
14. Surpanakha in the Ramakatha; Proceedings of the 26th International Congress of Orientalists, Delhi, Jan. 4-10, 1964.

Radio Talk

1. The Ramayana; A.I.R. Foreign Service, Delhi, 1967.

(ख) तुलसीदास

ग्रन्थ

1. *रामकथा और तुलसीदास*; हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1978
2. *मानस-कौमुदी*; अनुपम प्रकाशन, पटना, 1979

निबन्ध

1. मेरे अपने तुलसी, धर्मयुग, 1965
2. *रामचरितमानस* का रचनाक्रम; आलोचना, जुलाई, 1953 (परिवर्द्धित रूप : हिन्दी अनुशीलन, वर्ष 6, 1954)
3. तुलसी के प्रति श्रद्धांजलि; राष्ट्रभारती, फ़रवरी, 1975
4. तुलसी का विश्वजनीन सन्देश और हिन्दी; *विश्व हिन्दी दर्शन*, 1975
5. गोस्वामी तुलसीदास का दैन्य; *परमार्थ पथिक : स्वामी भजनानन्द सरस्वती अभिनन्दन ग्रन्थ*, 1979
6. तुलसी साहित्य की उपादेयता; दैनिक जागरण : रजत जयन्ती विशेषांक, 20 नवम्बर, 1982
7. तुलसी के प्रति श्रद्धांजलि; *तुलसी साहित्य : चिन्तन-अनुचिन्तन*; जालान पुस्तकालय, कलकत्ता, 1980
8. लोकनायक तुलसी; *मानस संगम*, 1981
9. मानस की रूसी भूमिका; आलोचना, वर्ष 5, अंक 1, जनवरी, 1956
10. तुलसी के श्रीराम; श्री राममन्दिर स्मरणोत्सव : रौप्य महोत्सव, 1966
11. कम्बर और तुलसीदास; हिन्दी अनुशीलन, वर्ष 10, अंक 3, 1957

रेडियो वार्ताएँ

1. *रामचरितमानस*; राँची, 2 अगस्त, 1957
2. *रामचरितमानस* की रामकथा; राँची, 24 जून, 1966

3. *रामचरितमानस* : मेरी दृष्टि में; जालन्धर, 31 मई, 1973
4. *रामचरितमानस* का सामाजिक परिवेश; राँची, 26 अगस्त, 1968
5. रामगाथा के सन्दर्भ में *रामचरितमानस*; दिल्ली 30 जुलाई, 1973
6. आदर्श जीवन के व्याख्याता; राँची, अगस्त, 1964
7. तुलसी का लोकानुराग; राँची, अगस्त, 1973
8. तुलसी का भक्तिमार्ग; इलाहाबाद, अगस्त, 1976
9. तुलसी : अन्य भाषाओं में; भोपाल, 31 जुलाई, 1979
10. मानस के पुरुषोत्तम राम; राँची, 9 अक्तूबर, 1978
11. सीताचरित्र : *रामचरितमानस* में; राँची; 9 सितम्बर, 1962

Articles

1. De Ramayan ven Toelsidas (Flemish); K.C.T., Streven, Vol. 5, Jan. 1949.
2. The Wonder that is Tulsidas : God's Word among Men; Vidya Jyoti, Delhi, 1973.
3. Tulsidas; *The Encyclopaedia of Sikkhism*, Panjabi University, Patiala, Nov. 1977.
4. Ramcharitmanasa and its Relevance to the Modern Age; International Seminar, Sahitya Akademi, Delhi, Dec. 1975.
5. Tulsidasa and Incarnation; Sevartham, Ranchi, 1979.

(ग) हिन्दी भाषा और साहित्य

पुस्तिकाएँ

1. *हिन्दी का भविष्य*; राजा रामदेव आनन्दीलाल पोद्दार पंचम स्मृति भाषण, जयपुर, 16 अक्टूबर, 1976
2. *हिन्दी प्रदेशों में हिन्दी की प्रतिष्ठा* (स्मारिका); राष्ट्रीय हिन्दी प्रचार संस्थान, इलाहाबाद, 1978

भाषण

1. उद्घाटन भाषण : अखिल भारतीय साहित्यकार सम्मेलन, कानपुर, जनवरी 1967
   (संक्षिप्त रूपान्तर : धर्मयुग, 1967; साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 1967, दिनमान 52)
2. मुख्य अतिथि का अभिभाषण : जीवाजी विश्वविद्यालय (कोल्हापुर) का दीक्षान्त समारोह, 29 फ़रवरी, 1968

निबन्ध

1. हिन्दी साहित्य की विशेषताएँ, संगम, इलाहाबाद, 1948
2. कैकेयी महाकाव्य (केदारनाथ मिश्र प्रभात); बिहार, पटना, मई-जून 1951
3. भारतीय सामाजिक संस्कृति की माध्यम भाषा : हिन्दी; राष्ट्रभाषा सन्देश, भाग 10, अंक 16; 16 फ़रवरी, 1975
4. हिन्दी शोध; हिन्दी अनुशीलन शोध विशेषांक, वर्ष 15, अंक 3-4, 1963
5. हिन्दी का गतिरोध; दिनमान, 17 फ़रवरी, 1972
6. हिन्दी की विरासत; विचार, भाग-1, आगरा विश्वविद्यालय, 1981

साक्षात्कार

1. हिन्दी का विरोध : देश की एकता का विरोध; भेंटकर्ता और तिथि अनुल्लिखित
2. विरोधी हिन्दी की सामर्थ्य पहचानें; भेंटकर्ता : शरण आनन्द (तिथि अनुल्लिखित)
3. विश्वभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा होनी चाहिए; भेंटकर्ता : डॉ. अमर कुमार सिंह एवं डॉ. श्रीमती भूपेन्द्र कलसी; *डॉ. बुल्के स्मृति ग्रन्थ,* 1987 (मूल तिथि अनुल्लिखित)

Booklet

1. The *Future of Hindi* (English version of the Raja R. A. Poddar Fifth Memorial Lecture); Jaipur, 16 Oct. 1976.

Article

1. No Other Language Can rival Hindi in Simplicity; SUNDAY, March 19, 1978.

(घ) ईसाई धार्मिक साहित्य और दर्शन

ग्रन्थ

1. *ईसा—जीवन और दर्शन*; सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, 1982
2. *लूई की अमर कहानी*; धार्मिक साहित्य समिति, राँची, 1958 (मराठी अनुवाद : जे. बेरानको, पुणे, 1959)

निबन्ध

1. एक ईसाई की आस्था, हिन्दी प्रेम और तुलसी भक्ति; धर्मयुग, 27 दिसम्बर, 1970 ई.
2. मैं क्रिसमस पर क्या सोचता हूँ?; धर्मयुग, 24 दिसम्बर, 1972

ग्रन्थ के अंश

हिन्दी विश्वकोश, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1960 के निम्नलिखित अंश :

अगस्तिन सन्त : उत्तरी अफ्रीका; अगस्तिन सन्त : कैण्टरबरी; अथानासियस महान्; अब्राहम; अवतारवाद; अवतारवाद : ईसाई धर्म; आर्चबिशप; आदम; आदिपाप; आर्मिनियस याकोबस; आमोस; आरियस; आंथेनी। (ग्रन्थ-1)

ईश्वर; ईसाई धर्म; ईसा मसीह; उत्पत्ति ग्रन्थ; एज़रा; एज़ियाह; एनक्विजिशन; एस्तेर; ऐंग्लिकन समुदाय; ओरिजेन; ओबह; कार्थूसियन; कार्डिनल; कार्मेलीय धर्मसंघ। (ग्रन्थ-2)

क्रिसमस; क्रूस और क्रूसदण्ड; कैथरीन; गिरजाघर। (ग्रन्थ-3)

ग्रिगोरी; चर्च; चर्च का इतिहास। (ग्रन्थ-4)

जेसुइट; तीर्थ : त्रित्व। (ग्रन्थ-5)

दियोनिसियस; दोमिनिको; धर्मप्रचार; धर्म संघ; धर्म संसद; धर्म सुधार; नरक। (ग्रन्थ-6)

पर्व; पाप; पापस्वीकरण; पुनरुत्थान; पुरोहित; पोप; प्यूरिटनवाद; प्रभु प्रकाश। (ग्रन्थ-7)

प्राच्य चर्च; प्रायश्चित्त; प्रेसविटरीय चर्च; प्रोटेस्टैण्ट धर्म; फ्रांसिस; फ्रांसिस्की धर्मसंघ; बपतिस्मा; बर्बरा (सन्त); बिशप; बैपटिस्ट चर्च; भक्ति (ईसाई)। (ग्रन्थ-8)

मार्तिन; माला; मुक्ति; मुक्तिसेना; मैथोडिस्म। (ग्रन्थ-9)

रोमन काथलिक चर्च; लोयोला; लूथर; लोलार्ड। (ग्रन्थ-10)

वैटिकन; संस्कार। (ग्रन्थ-11)

रेडियो वार्ताएँ

1. ईसा का प्रेम-सन्देश; पटना-राँची, 25 दिसम्बर, 1965
2. शान्तिदूत ईसा मसीह; राँची, 24 दिसम्बर, 1969 ई.
3. मानव जाति को ईसा मसीह का सन्देश; पटना-भागलपुर, 1979
4. ईसा धर्म; गौहाटी, 17 फ़रवरी, 1971

5. चर्च और मानवधर्म : ईसाई धर्म; अखिल भारतीय कार्यक्रम, 1980
6. *बाइबिल* में मानवधर्म; इलाहाबाद, 20 अप्रैल, 1969
7. क्रिसमस का महत्त्व; राँची, 25 दिसम्बर, 1970
8. गाँधी जी के कुछ प्रिय ग्रन्थ : *बाइबिल*; इलाहाबाद, जून 1962
9. भारतीय जीवन, संस्कृति और विकास में ईसाइयों की देन; राँची, 4 दिसम्बर, 1964

Books

1. *The Saviour* : The Four Gospels in One Narrative; Catholic Press, Ranchi, 1942.
2. *Hindi Christian Names* (Compiled and edited jointly by R. P. Sah, S. J.; S. N. Wald, S.V.D. and C. Bulcke, S. J.); St. Paul's Publications, Allahabad, 1956.

Articles

1. Avatar and Incarnation; *Apostolic Approach*, Vol. 2, 1957.
2. Christianity and non-Christian Religions, *Apostolic Approach*, Vol. 2, 1957.
3. Ethics and Avataravada; *The Clergy Monthly Supplement*, 1958.
4. Catholic Approach to Hinduism; *The Clergy Monthly Supplement to Vol.* 6, Sept 1963.
5. Some Problems of Adaptation; *Apostolic Approach*, Vol. II, 1957.
6. The Contribution of Missionaries to the Social and Educational Life of Ranchi District, with reference to Ranchi proper; *Ranchi Distt. Gazetteer*, Patna 1970.

(ङ) कोश-सम्बन्धी कार्य

ग्रन्थ

1. *A Technical English-Hindi Glossary*; Dharmik Sahitya Samiti, Ranchi, 1955.
2. *अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश*; काथलिक प्रेस, राँची, 1968

निबन्ध

1. मेरी कोश-निर्माण वेदना; साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 30 जून, 1968
2. कोश-निर्माण सम्बन्धी मेरे अनुभव; विश्व हिन्दी पत्रिका, तिथि अनुल्लिखित

(च) अनुवाद-साहित्य

बाइबिल-साहित्य

1. *मुक्तिदाता* (*द सेवियर* का अनुवाद) काथलिक प्रेस, राँची, 1942
2. *पर्वत-प्रवचन* (*सरमन ऑन द माउण्ट* का अनुवाद); काथलिक प्रेस, राँची 1959
3. *सन्त लूकस के अनुसार येसु ख्रीस्त का पवित्र सुसमाचार*; काथलिक प्रेस, राँची, 1963
4. *चारों सुसमाचार*, काथलिक प्रेस, राँची, 1970
5. *प्रेरित चरित*, धार्मिक साहित्य समिति, राँची, 1973
6. *हिन्दी बाइबिल : न्यू टेस्टामेण्ट*, काथलिक प्रेस, राँची, 1977
7. *पवित्र बाइबिल*; हिन्दी साहित्य समिति, इलाहाबाद, 1986
8. *बाइबिल के तीन लघु उपन्यास* : अनुपम प्रकाशन, पटना, 1987

धार्मिक पाठ-साहित्य

1. *मरिया-संगत-सहचर* : काथलिक प्रेस, राँची, 1954
2. *पुण्य सप्ताह* (खजूर इतवार, सोमवार, बृहस्पतिवार, पुण्य शुक्रवार और ईस्टर जागरण) : धार्मिक साहित्य समिति, राँची, 1957
3. *पुण्य सप्ताह* (ईस्टर रविवार का मिस्सा); धार्मिक साहित्य समिति, राँची, 1957
4. *येसु संघ में प्रचलित स्तुतिमाला*; काथलिक प्रेस, राँची, 1964
5. *ख्रीस्त जयन्ती के तीनों मिस्सा*; काथलिक प्रेस, राँची, 1964
6. *व्रतधारण का ख्रीस्त याग* (Missa in die Profession is Religiosarum); काथलिक प्रेस, राँची, 1966
7. *रविवारीय पाठ-संग्रह*; काथलिक प्रेस, राँची, 1972
8. *पाठ-संग्रह*, भाग-3; काथलिक प्रेस, राँची, 1973
9. *दैनिक पाठ-संग्रह*; काथलिक प्रेस, राँची, 1974
10. *रात्रि-वन्दना*; धार्मिक साहित्य समिति, राँची, 1980

धार्मिक विधि-साहित्य

1. *उपविधियाँ*; काथलिक प्रेस, राँची, 1955
2. *पुरोहित अभिषेक की धर्मविधि*; काथलिक प्रेस, राँची, 1969

ललित साहित्य

1. *नील पंछी* (मारिस मेटरलिंक के फ्रेंच नाटक का अनुवाद); बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1958

निबन्ध

1. हिन्देशिया में रामायण (मूल लेखक : हुईकास); *राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन-ग्रन्थ*, 1958
2. रामकेर्ति : ख्मेर भाषा का रामायण (मूल लेखक : आर. मार्तिनी); उपरिवत्

(छ) विविध

निबन्ध

1. माता का हृदय; प्रयाग विश्वविद्यालय पत्रिका, 1948
2. स हि भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला; संगम, इलाहाबाद, 1948
3. चुहिया और संगतराश; हरसिंगार, इलाहाबाद, 1949
4. विनयमूर्ति आचार्य शिवपूजन जी; परिषद् पत्रिका, पटना, अंक 3, 1963
5. स्वाभिमानिनी, स्वतन्त्रबुद्धि करुणामयी; *महादेवी संस्मरण-ग्रन्थ*, इलाहाबाद, 1967
6. एक आदर्श भारतीय : एक सौम्य व्यक्तित्व; (डॉ. कर्ण सिंह); आलेख प्रकाशन, दिल्ली, 1981
7. प्रसन्नचित्त आतिथ्यक आचार्य लालताप्रसाद सुकुल; तिथि : अनुल्लिखित
8. कबीर; तिथि अनुल्लिखित

रेडियो वार्ताएँ

1. धर्मनिरपेक्षता—मेरी नज़र में; अखिल भारतीय प्रकाशन, 4 दिसम्बर, 1964
2. भारतीयता की मेरी पहचान; पटना-भागलपुर 1979
3. भगवद्गीता के मेरे प्रिय प्रसंग; अन्य विवरण अनुल्लिखित

भाषण

1. विकलांगों के उद्धार में धर्म की भूमिका; गुरु नानक होम, 25 फ़रवरी, 1977

Book

1. *The Theises of Nyāya-Vaisheshika*; Oriental Institute, Calcutta, 1947 (Second Edition : Motilal Banarasi Das, Delhi, 1967).

Articles

1. Mein Dorf (German), 1933 : 'मेरा गाँव' शीर्षक से *डॉ. बुल्के स्मृति-ग्रन्थ* में सम्मिलित, 1987
2. Paaschjubel (Flemish); *Bode Van Let heiling Hart*, March 1933.

3. Waarheen, met uw jeud? (Flemish), *Bode Van Let heiling Hart*, June 1933.
4. A Visit to Manpad; *Our Field*, no. 2, Ranchi, March-April.
5. Waar Vrizzinnigheid en religiosisteit Samengaan (Flemish); Katholieke Missies, Tetringen, Holland, Oct. 1958.
6. A Note on a Stanza of the Mohimna stotra; Annals of the Bhandarkar Institute, Vol. 37.

साक्षात्कार

1. डॉ. कामिल बुल्के : एक अन्तरंग साक्षात्कार (फ़रवरी, 1976);
साक्षात्कारकर्ता : डॉ. दिनेश्वर प्रसाद,
आलोचना, अंक 75, दिल्ली, 1987

सहायक ग्रन्थ एवं पत्रिकाएँ

ग्रन्थ

1. *डॉ. बुल्के स्मृति ग्रन्थ* : सम्पादक—डॉ. दिनेश्वर प्रसाद और डॉ. श्रवणकुमार गोस्वामी; प्रकाशक—डॉ. बुल्के स्मृतिग्रन्थ समिति, राँची, 1987
2. *धर्मशास्त्र*; ब्रिटिश एण्ड फ़ॉरेन *बाइबिल* सोसाइटी, इलाहाबाद, 1944
3. *नया नियम*; भारत-लंका *बाइबिल* समिति, बंगलौर, 1965
4. *भजन संहिता*; *बाइबिल* सोसायटी ऑफ़ इण्डिया, बंगलौर, 1972
5. *नया व्यवस्थान*; आर. पी. साह, पटना, 1973
6. *The Fair Face of Flanders.*

पत्रिका

1. *Our Field*, Ranchi, 1940.
2. मुक्तकण्ठ (फ़ा. कामिल बुल्के अंक), सं. शंकर दयाल सिंह,
पारिजात प्रकाशन, पटना

□□